भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

वर्ष-१०
अंक-३
मई-जून २०१६

ISSN 0973-9777
GISI Impact Factor 2.4620
वर्ष-१० अंक-३
मई-जून २०१६

एम.पी.ए.एस.वी.ओ.
द्वारा आन्वीक्षिकी सदस्य
सहसंयोजन से प्रकाशित

आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

प्रधान सम्पादिका

डॉ. मनीषा शुक्ला,maneeshashukla76@rediffmail.com

पुनर्निरीक्षक संपादक

प्रो. विभा रानी दुबे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, उ.प्र.,भारत

डॉ. नागेन्द्र नारायण मिश्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद,उ.प्र.,भारत

प्रो. उमेश चंद्र दुबे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, उ. प्र.,भारत

सम्पादक

डॉ. महेन्द्र शुक्ल, डॉ. अंशुमाला मिश्रा

सम्पादक मण्डल

डॉ. मंजु वर्मा, डॉ. अमित जोशी, डॉ. अर्चना तिवारी, डॉ. सुजीत कुमार सिंह, डॉ. हेमराज, डॉ. ममता चौरसिया, डॉ. विकास कुमार सिंह, डॉ. सच्चिदानंद द्विवेदी, डॉ. रवि प्रकाश सिंह, डॉ. हरमोहन साहू, डॉ. पौलमी चटर्जी, डॉ. राम अग्रवाल, डॉ. जे. पी. तिवारी, डॉ. सिद्धार्थ पाण्डेय, जय प्रकाश मल्ल, डॉ. त्रिलोकीनाथ मिश्र, दिनेश मीणा, प्रो. अंजली श्रीवास्तव, विजय कुमार प्रभात, डॉ. राजेश कुमार, डॉ. राधा वर्मा, एम. डी. अब्दुल्ला, डॉ. रमेश कुमार सिंह, चण्डी मण्डल, डॉ. ममता अग्रवाल, डॉ. तनुजा, डॉ. वंदना पाण्डेय, डॉ. नमिता जैसल,

अन्तर्राष्ट्रीय सलाहकार मण्डल

पी.त्रिराची सोडामा (श्रीलंका), फ्रा च्युतिदेश सैन्सोम्बट (बैंकाक,थाईलैंड), डॉ. सीताराम बहादुर थापा (नेपाल),
माजिद करीमजादेह (ईराक), मोहम्मद जारेई (जाहेडान, ईरान), मोहम्मद मोजटाबा केयाहफरजानेह (जाहेडान, ईरान),
डॉ. होसैन जेनाबदी (सिस्तान एवं बलूचिस्तान, ईरान), मोहम्मद जावेद केयाह फरजानेह (जाबोल, ईरान)

प्रबन्धक

महेश्वर शुक्ल,maheshwar.shukla@rediffmail.com

सारांश एवं सूचीपत्र

मोतीलाल बनारसीदास सूचीपत्र वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास सूचीपत्र दिल्ली, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका सूचीपत्र वाराणसी, सेन्ट्रल न्यूज एजेंसी सूचीपत्र दिल्ली, डी.के.पब्लिकेशन सूचीपत्र दिल्ली, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस कम्यूनिकेशन एण्ड इन्फारमेशन रिसोर्स सूचीपत्र दिल्ली, नोएडा कॉलेज ऑफ फिज़िकल एजुकेशन सूचीपत्र गौतमबुद्ध नगर

पाठकों से

आन्वीक्षिकी,भारतीय शोध पत्रिका प्रत्येक दो माह (जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, सितम्बर एवं नवम्बर) पर एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण वाराणसी उ.प्र. भारत द्वारा प्रकाशित की जाती है। एक वर्ष में आन्वीक्षिकी,भारतीय शोध पत्रिका 6 भाग हिन्दी एवं 6 भाग अंग्रेजी एवं 3 अतिरिक्तांकों के भाग में प्रकाशित की जाती है। डॉक खर्च दर के सम्बन्ध में जानकारी हेतु सम्पर्क करें।

वार्षिक पाठक मूल्य दर

संस्थागत एवं व्यक्तिगत : भारतीय 5000+1000/-डाक शुल्क, एक प्रति 1200+100/- डाक शुल्क, वैदेशिक : 6000+डाक खर्च, एक प्रति 1000+डाक शुल्क

विज्ञापन एवं निवेदन

विज्ञापन के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करने हेतु प्रधान सम्पादिका के पते पर संपर्क करें। आन्वीक्षिकी एक स्ववित्तपोषित पत्रिका है,अत: किसी भी प्रकार का आर्थिक सहयोग सराहनीय होगा। कृपया अपनी सहयोग राशि चेक अथवा ड्राफ्ट के माध्यम से निम्नलिखित पते पर प्रेषित करें।

सभी पत्राचार निम्नलिखित पते पर ही प्रेषित करें-

बी.32/16 ए. 2/1,गोपालकुंज,नरिया,लंका वाराणसी उ.प्र. भारत,पिन कोड 221005 मोबाइल नं. 09935784387,
टेलीफोन नं. 0542-2310539.,E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com,www.anvikshikijournal.com
मिलने का समय : 3-5 दिन में(रविवार अवकाश)

पत्रिका संयोजन : महेश्वर शुक्ल,maheshwar.shukla@rediffmail.com

प्रकाशन :एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण

प्रकाशन तिथि : 1 मई 2016

मनीषा प्रकाशन
(पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008 बी.32/16 ए. 2/1,गोपालकुंज,नरिया, लंका वाराणसी उ.प्र. भारत)

आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका

वर्ष-10 अंक-3 मई-2016

शोध प्रपत्र

कामकाजी महिलाओं में भूमिका सामंजस्य संबंधित समस्या
[रायपुर जिला के खनिज भवन विभाग के विशेष संदर्भ में] -डॉ. पुष्पा तिवारी एवं दुर्गेश नंदनी साहू 1-7

रस विवेचन -डॉ. मंजु वर्मा 8-11
शिक्षक : एक पथ प्रदर्शक -जय प्रकाश नारायण एवं नरेन्द्र कुमार चौरासिया 12-14

संगीत शिक्षा द्वारा मानव विकास की सम्भावनाएँ -डॉ. पौलमी चटर्जी 15-18
कैवल्य दर्शन में शरीर की अवधारणा -अनिल कुमार एवं डॉ. अंशुमाला मिश्रा 19-20

समाज की संरचना के आधार एवं आधुनिक समाज के आचरण की वास्तविक स्थिति -डॉ. हेमराज 21-25
शरणदाता : सृजन एवं सर्जक -सव्यसाची मिश्र 26-30

भारतेन्दुयुगीन रीति परिपाटी के कवि और उनकी कविताएँ -डॉ. सच्चिदानन्द द्विवेदी 31-35
दुग्ध उद्योग : ग्रामीण अर्थव्यवस्था की संजीवनी -डॉ. सिद्धार्थ पाण्डेय 36-40

आज के युग में कौटिल्य के आर्थिक विचार का महत्त्व -डॉ. मनोज कुमार सिंह 41-43
वैदिक गणित से है पश्चिम हतप्रभ -जयप्रकाश मल्ल 44-48

श्री अरविन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचार और समकालीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था -
जय प्रकाश नारायण एवं नरेन्द्र कुमार चौरासिया 49-53

"बौद्ध धर्म के प्रचार में भारतीय बौद्ध आचार्यों का योगदान" -डॉ. त्रिलोकीनाथ मिश्र 54-58
शक्तिवाद की वैज्ञानिकता -डॉ. स्मिता द्विवेदी 59-61

विशिष्टान्तराघटितत्त्वविचार: -राजीवलोचन शर्मा 62-64
"बृहत्कथा" संस्कृत लोककथा एवं उपजीव्यकथा के रूप में प्रस्तुत -अभिनीत कुमार श्रीवास्तव 65-67

"रामायण में वर्णित स्त्रियों की स्थिति : एक सांस्कृतिक अध्ययन" -डॉ. त्रिलोकीनाथ मिश्र 68-72
भारतीय रसोईं की वैज्ञानिक अवधारणा -डॉ. अर्चना तिवारी 73-78

प्रयोजनमूलकता से प्रयुक्तमूलक हिन्दी -भास्कर राठोड़ 79-80
ਜੀਵਨ ਦੀ ਗਤੀਸ਼ੀਲਤਾ ਦਾ ਬਿਰਤਾਂਤ : ਬਦਲੇ ਦੀ ਪੱਤਝੜ -ਕਾਰਜ ਸਿੰਘ 81-88

प्रिंट ISSN 0973-9777, वेबसाइट ISSN 0973-9777

मनीषा प्रकाशन एवं शोध विवेक संस्था वाराणसी उ0प्र0

बी0 32 / 16 ए0 ,फ्लैट न0 2 /1 ,गोपाल कुञ्ज ,नरिया ,लंका ,वाराणसी

(पत्रावली संख्या V-34654 ,रजि0 533 / 2007-2008)

E-Mail : maneeshashukla76@rediffmail.com ,www.anvikshikijournal.com,Mo.09935784387, Office No.0542-2310539

पुस्तक प्रकाशित कराने के पूर्व निम्न बातों पर ध्यान दें एवं सहमत होने पर ही पुस्तक प्रकाशन करायें –

1. आपको अपनी पुस्तक का मैटर टाइप किया हुआ ही देना है, यदि टाइप नहीं है तो टाइपिंग शुल्क आपको ही देना होगा जो प्रकाशन शुल्क के अतिरिक्त होगा।
2. 150 पृष्ठ तक की पुस्तक का प्रकाशन शुल्क 40000/– है (पत्रिका के सदस्यों को 5,000/– की छूट होगी।)
3. 150 पृष्ठ तक की पुस्तक के प्रकाशन के लिये अतिरिक्त कोई शुल्क नहीं है, 150 पृष्ठ से उपर की पुस्तक के लिये प्रति 50 पृष्ठ 5000/– अतिरिक्त शुल्क देय होगा।
4. प्रकाशन के बाद प्रकाशित पुस्तक की 20 प्रतियाँ लेखक को प्रदान की जायेंगी, अतिरिक्त पुस्तक लेने पर अतिरिक्त पुस्तक के लिये शुल्क देय होगा जो लेखक को देना होगा।
5. प्रूफ रीडिंग एवं कम्प्यूटर पर अंकित संशोधन के समय लेखक को उपस्थित रहना होगा।
6. 'कॉपीराइट' अपने नाम कराने हेतु पुस्तक प्रकाशन के साल भर के अन्दर 5000/– शुल्क देकर लेखक अपने पुस्तक की निगेटिव प्राप्त कर सकते हैं।
7. कॉपीराइट अपने नाम करवाने के पश्चात् लेखक अपनी इच्छा से पुस्तक खरीदना, बेचना, छपवाना अपने निर्णय से कर सकता है इसमें प्रकाशक से अनुमति नहीं लेनी होगी।
8. द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के समय नये ISBN के लिये संस्था में 5000/– जमा कर रजिस्ट्रेशन करा सकते हैं, बाकी पुस्तक आप अपनी इच्छा से कहीं भी छपवा सकते हैं।
9. पुस्तक के प्रथम प्रूफ रीडिंग के बाद 'करेक्शन इण्टर' किया जाता है, उसके बाद पुनः लेखक को एक बार और मैटर पढ़ने के लिये दिया जाता है, फिर लेखक के सन्तुष्टिपूर्वक कम्प्यूटर में 'करेक्शन इण्टर' करा लेने के बाद फाइनल प्रिन्ट छपने के लिये प्रेस में भेजा जाता है, इस दौरान लेखक को संन्तुति–पत्र के साथ ही प्रकाशन की पूरी फीस जमा कर देनी होती है।

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,1-7
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 20 मार्च 2016

कामकाजी महिलाओं में भूमिका सामंजस्य संबंधित समस्या [रायपुर जिला के खनिज भवन विभाग के विशेष संदर्भ में]

डॉ. पुष्पा तिवारी* एवं कुमारी दुर्गेश नंदनी साहू**

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *कामकाजी महिलाओं में भूमिका सामंजस्य संबंधित समस्या [रायपुर जिला के खनिज भवन विभाग के विशेष संदर्भ में]* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका *पुष्पा तिवारी एवं दुर्गेश नंदनी साहू* घोषणा करते हैं कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेते हैं, क्योंकि हमने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देते है। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह हमारी मौलिक कृति है। हम शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देते हैं। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देते हैं।

समायोजन का अर्थ है एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति पर चले जाना, भूमिकाओं का दूसरों के परिप्रेक्ष्य से अवलोकन तथा विविध भूमिकाओं को कुशलता तथा संतोषप्रद ढंग से निर्वाह करना होता है। सरल शब्दों में भूमिका समायोजन भूमिका की मांग (role demands) तथा व्यक्ति की भूमिका को करने की विधि (role performance) पर निर्भर करता है। एक कामकाजी महिला को असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। घर के जीवन का समायोजन दफ्तर की दिनचर्या से करना होता है। घर के कामकाज को परम्परागत चर्या से भिन्न बिंदुओं पर व्यवस्थित करना होता है। लार्जान्स (1961) के अनुसार ''समायोजन दर्शाने वाले चार प्रमुख सूचक हैं- भूमिकाओं का कुशल व बुद्धिमत्तापूर्ण निर्वाह, मनोवैज्ञानिक सुख की सीमा, तनाव लक्षणों का अभाव तथा व्यवहार की सामाजिक स्वीकृति।''

लीबरमान (1956 पेज 585-402) के अनुसार महिलाओं की भूमिका में परिवर्तन के साथ ही उसके व्यवहार और कार्यो में भी बदलाव आता है जिसका असर उसके दृष्टिकोण पर पड़ता है इसलिए शिक्षित महिलाओं खासकर कामकाजी महिलाओं के जीवन में नई भूमिकाएं जुड़ जाने से उनके दृष्टिकोण में समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा बहुत अधिक परिवर्तन आया है।

आज की बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति में महिलाओं द्वारा नौकरी करना अपमानजनक नही माना जाता। रायपुर (छ.ग.) में कार्यरत महिलाओं का प्रतिशत निरंतर बढ़ता जा रहा है। रही भूमिका सामंजस्य संबंधी समस्या तो इसके बावजूद महिलाओं में कार्य का हौसला कम नही हुआ है। 1991 की जनगणना कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार 80 प्रतिशत महिलाएं कृषि कार्यों में अपने परिवार का सहयोग करती हैं तथा स्वयं भी कार्य करती हैं वहीं केवल 12.0 प्रतिशत महिलायें केन्द्र व राज्य प्रशासनिक सेवाओं में और सार्वजनिक स्थानों पर कार्य कर रही हैं। वह घर व परिवार को संभालने के साथ-साथ अपने कार्यों एवं दायित्वों का निर्वहन पूरे मन से करती हैं। यदि कार्यरत महिला अपने कार्य एवं परिवार के बीच

* सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, शासकीय दूधाधारी बजरंग महिला स्नातकोत्तर [स्वशासी] महाविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) भारत
** शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, शासकीय दूधाधारी बजरंग महिला स्नातकोत्तर [स्वशासी] महाविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

संतुलन बना लेती है तो वह दोहरी भूमिका से संतुष्ट मानी जायेगी। दोहरी भूमिकाओं के साथ संतोष/ असंतोष कामकाजी महिलाओं के आत्म प्रतिबिम्ब अथवा स्वयं के विषय में की गई कल्पनाओं को प्रभावित करता है। स्वयं के विषय में ऊँचे प्रतिबिम्ब बनाने का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करती है काम करने के कारण उनके व्यक्तित्व में सुधार हुआ है, जबकि निम्न प्रतिबिम्ब का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करे कि काम व नौकरी ने उसके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव नही डाला है।

निम्न स्व-प्रतिबिम्ब और दोहरी भूमिकाएं कामकाजी महिलाओं के लिए भूमिका संघर्ष जैसी समस्या पैदा कर देती हैं जिसका प्रभाव पारिवारिक संबंधो, बच्चों की देखभाल, सक्रिय व निष्क्रिय रूप में भूमिकाओं के निर्वाह करने पर पड़ता है। रामू (1989) का मत है कि नवीन आर्थिक व घरेलु भूमिकाओं के बीच के संघर्ष का फल महिलाओं के कार्यकलापों के विभागी-करण के रूप में होता है। यद्यपि यह अस्थाई ही होता है क्योंकि व्यवसाय व गृहस्थ जीवन के बीच स्पर्द्धा की मांग होती है कि वे इसके साथ समन्वय करें किन्तु अनेक महिलाओं के लिए यह असम्भव सा ही प्रतीत होता है। कुछ समय के बाद वे अनुभव करती हैं कि या तो वे अपनी व्यावसायिक आकांक्षाओं को नीचे लायें या फिर अपने गृहस्थ दायित्वों में कुछ कटौती करें।

अध्ययन का महत्व

कामकाजी महिलाएं सामान्यतया घर की जिम्मेदारी तथा अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इस प्रकार योजना बना लेती है कि समायोजन करने में कठिनाई नहीं आती।

महिलायें घर की चार दीवारी से बाहर निकल कर तथा राष्ट्र व मानवता के वृहद दायरे में अपनी भागीदारी का निर्वाह कर रही हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन कामकाजी महिलाओं के भूमिका सामंजस्य पर आधारित है जिसमें निम्न बिन्दुओं पर विशेष रूप से अध्ययन किया गया है।

1. कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक सहयोग का अध्ययन।
2. घर व कार्य के बीच समाजंस्य का अध्ययन।

अध्ययन क्षेत्र; रायपुर छत्तीसगढ़ की राजधानी के खनिज विभाग में कार्यरत 60 महिलाओं में से 20 महिलाओं के माध्यम से अध्ययन किया गया। 3:1 का अनुपात लिया गया।

उपकल्पना; 1. कार्यरत महिलाओं को कार्य तथा परिवार के बीच भूमिका सामंजस्य में कठिनाई आनी है। 2. कार्य में परिवार का सहयोग न होने पर कठिनाई आती है।

अध्ययन पद्धति; निम्नलिखित अध्ययन पद्धति के माध्यम से अपना अध्ययन कार्य पूर्ण किया गया।

तथ्य संग्रह विधि; तथ्यों का संग्रह दो स्रोतों के माध्यम से एकत्रित किया गया है। 1. प्राथमिक स्रोत एवं 2. द्वितीयक स्रोत।

प्राथमिक स्रोत

इस स्रोत में अनुसूची, साक्षात्कार के माध्यम से प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित किया गया।

निदर्शन : अपने इस अध्ययन में दैव निदर्शन के प्रत्येक 3 में से 1 महिला को चुना गया।

द्वितीयक स्रोत

इस स्रोत के माध्यम से लिखित प्रलेखों जैसे पुस्तकालय पत्रिका तथा सरकारी प्रतिवेदनों से जानकारी प्राप्त की गई।

कार्यरत महिलाओं की भूमिका सामंजस्य संबंधी अध्ययन

तालिका क्रमांक 1.1

क्रमांक	परिवार का आकार	आवृत्ति	प्रतिशत
1	संयुक्त	5	25
2	एकाकी	15	75
	योग	20	100

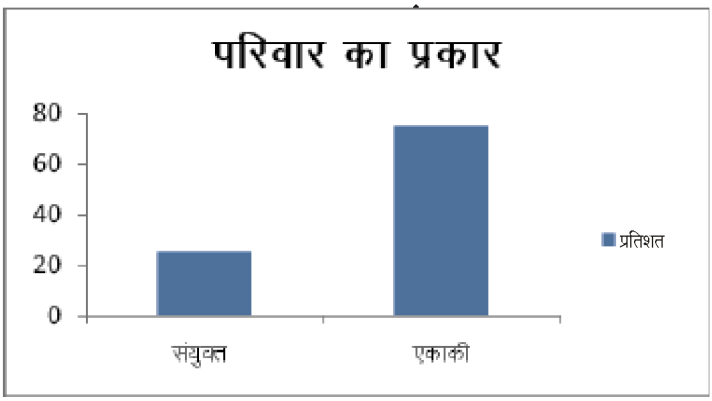

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 25 प्रतिशत परिवार संयुक्त तथा 75 प्रतिशत महिलाओं का परिवार एकाकी है अतः हम कह सकते है कि एकाकी परिवार की महिलाओं को भूमिका सामंजस्य में कठिनाई होती है।

कार्य पूर्ण करने हेतु आधुनिक संसाधनों का उपयोग

तालिका क्रमांक 1.2

क्र.	आधुनिक संसाधनों का उपयोग	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	2	10
2	नहीं	18	90
	योग	20	100

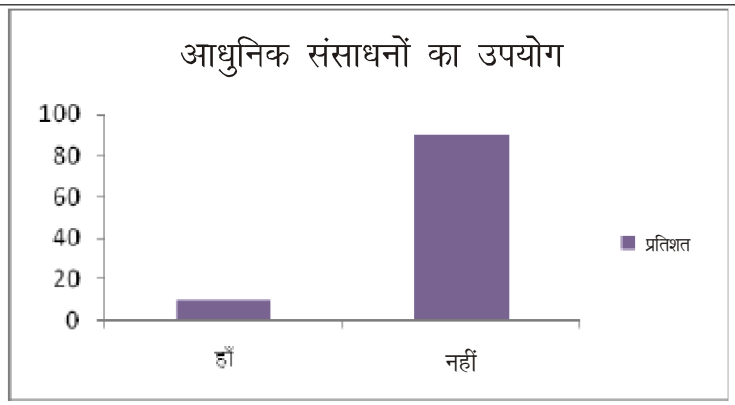

उपरोक्त तालिका के अनुसार 10 प्रतिशत महिलायें घर के कार्य को पूरा करने के लिए आधुनिक संसाधनों जैसे वेक्युम क्लीनर, वासिंग मशीन, चावल बनाने का मशीन तथा रोटी मेकर आदि का उपयोग करती हैं तथा 90 प्रतिशत महिलायें इसका उपयोग नहीं करती हैं।

कार्य के लिए परिवार का सहयोग

तालिका क्रमांक 1.3

क्र.	परिवार का सहयोग	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	16	80
2	नहीं	4	20
	योग	20	100

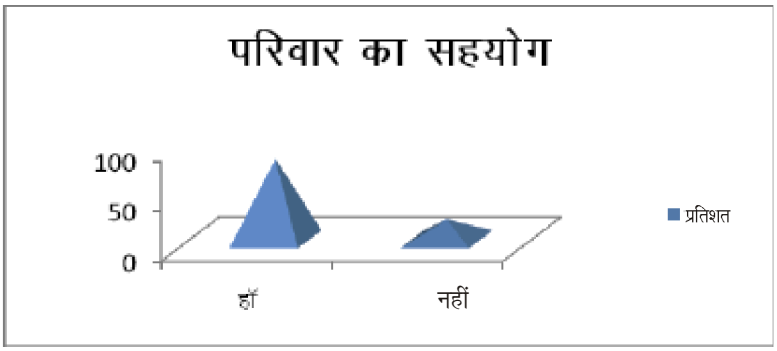

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि कामकाजी महिलाओं को सुबह काम पर जाने से पहले आवश्यक काम जैसे चाय नाश्ता घर की साफ सफाई अनिवार्य होती है। ऐसे में यदि परिवार का सहयोग मिल जाता है तो उनका कार्य जल्दी पूरा हो जाता है। जहां 80 प्रतिशत महिलाओं को परिवार के द्वारा इस कार्य के लिए सहयोग प्राप्त है वहीं केवल 20 प्रतिशत महिलायें यह कार्य स्वयं पूरा करती हैं।

बच्चों के लिए समय

तालिका क्रमांक 1.4

क्र.	बच्चों के लिए समय	आवृत्ति	प्रतिशत
1	हाँ	18	90
2	नहीं	2	10
	योग	20	100

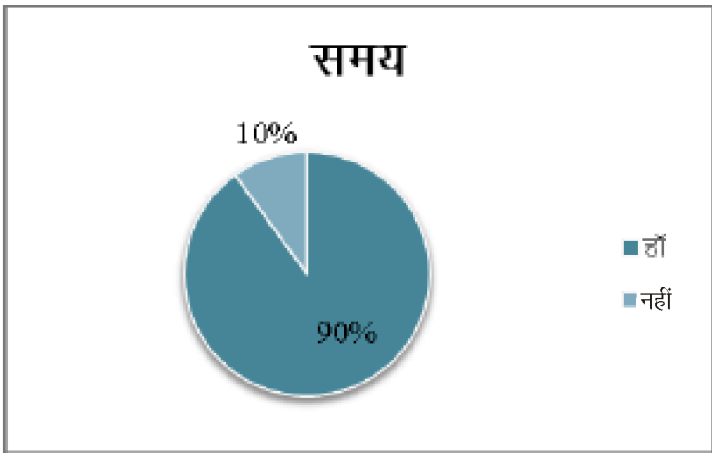

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 90 प्रतिशत महिलायें कार्य के साथ साथ बच्चों के लिए समय निकाल पाती हैं तथा 10 प्रतिशत महिलाएं ऐसा करने में असमर्थ हैं अतः जो महिलाएं समय नहीं निकाल पा रहीं हैं उन्हें कार्य और परिवार के बीच सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई होती है।

सामाजिक कार्यक्रमों में शामिल होने हेतु समय

तालिका क्रमांक 1.5

क्र.	सामाजिक कार्य	आवृत्ति	प्रतिशत
1.	हाँ	10	50
2.	नहीं	10	50
	योग	20	100

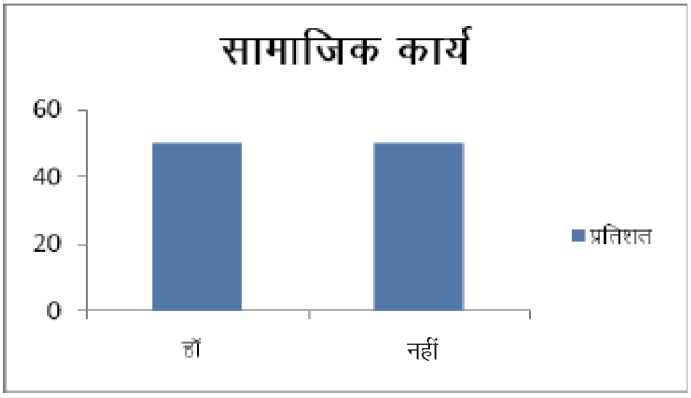

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 50 प्रतिशत महिलाएं सामाजिक कार्यक्रम में शामिल होती हैं तथा 50 प्रतिशत महिलाएं समय अभाव के कारण भाग नहीं ले पातीं।

व्यक्तिगत कार्य के लिए समय संबंधी विवरण

तालिका क्रमांक 1.6

क्र.	व्यक्तिगत कार्य	आवृत्ति	प्रतिशत
1.	हाँ	15	75
2.	नहीं	5	25
	योग	20	100

उपरोक्त विवेचना के आधार पर 75 प्रतिशत महिलाऐं अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए समय निकल पाती हैं तथा 25 प्रतिशत महिलाऐं इसके लिए असमर्थ होती हैं।

परिवार के लिए समय

तालिका क्रमांक 1.7

क्र.	परिवार के लिए समय	आवृत्ति	प्रतिशत
1.	हाँ	18	90
2.	नहीं	2	10
	योग	20	100

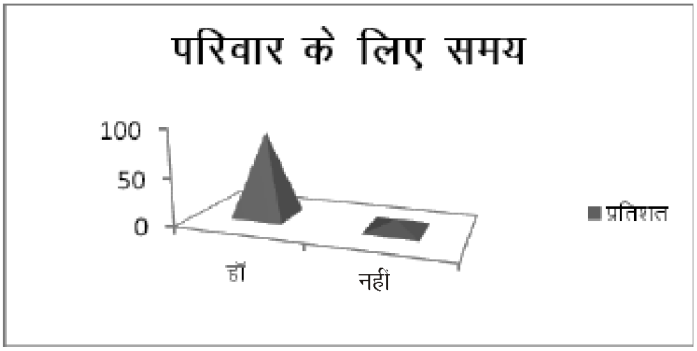

उपरोक्त तालिका के आधार पर 90 प्रतिशत महिलाएं परिवार के लिए समय निकाल पाती हैं। वहीं 10 प्रतिशत महिलाएं कार्य में व्यस्त होने के कारण परिवार के लिए समय नहीं निकाल पातीं।

कार्य क्षेत्र तथा परिवार के मध्य संतुलन संबंधि विवरण

तालिका क्रमांक 1.8

क्र.	संतुलन	आवृत्ति	प्रतिशत
1.	हाँ	18	90
2.	नहीं	2	10
	योग	20	100

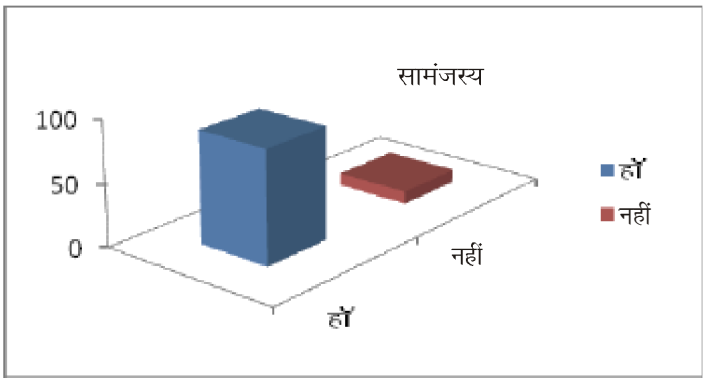

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है, 90 प्रतिशत महिलाऐं कार्य तथा परिवार के बीच संतुलन बनाये रखने में समर्थ हैं। तथा 10 प्रतिशत महिलाऐं भूमिका सामंजस्य में असमर्थ पाई गईं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि घर कार्य का समायोजन पारिवारिक संरचना, आकार, पति तथा परिवार वालों के सहयोग तथा स्व-मूल्यांकन पर निर्भर करता है। दोनों परिस्थितियों को एक साथ रखकर कहा जा सकता है कि कामकाजी महिलाएं सामान्यतया घर की जिम्मेदारियों तथा अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इस प्रकार योजना बना लेती हैं कि समायोजन करने में कठिनाई नहीं आती और वे घर की चार दीवारी से बाहर निकल कर तथा राष्ट्र व मानवता के वृहद दायरे में अपनी भागीदारी का निर्वाह कर रही हैं। अध्ययनरत् उत्तरदाताओं के उत्तर के आधार पर पाते हैं कि केवल 1.0 प्रतिशत महिलाओं को भूमिका सामंजस्य करने में कठिनाई होती है वही 99 प्रतिशत महिलाएं पूर्ण रूप से भूमिका सामंजस्य करने में समर्थ पाई गईं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

लिबरमान 1956, पेज नं. 585-402

CHAKRABORTY K (1978); *The conflicting words of working mothers.* Progressive publisher Calcutta.

RAMU G.N.(1989); *Woman work in mariiage in urban india,* sage publication New Delhi

प्रतियोगिता दर्पण 2013, पेज न. 34

संजय श्रीवास्तव -*महिला सशक्तीकरण की बदलती तस्वीर,* कुरूक्षेत्र -जनवरी 2016, पेज न. 15-18.

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,8-11
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 12 फरवरी 2016

रस विवेचन

डॉ. मंजु वर्मा*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *रस विवेचन* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *मंजु वर्मा* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

रस को काव्य की आत्मा माना जाता है- वाक्यं रसात्मकं काव्यम् अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस तत्व का उदय भारतीय काव्य के उदय के साथ ही हुआ था। रस विवेचन रीतिकालीन कवियों का प्रिय विषय रहा है। उन्होंने रस रीति पर अलग से भी ग्रंथ लिखे हैं। रस का लक्षण या उसकी परिभाषा संस्कृत काव्य शास्त्र में विवादास्पद विषय रहा है। रस की महिमा अत्यन्त व्यापक है। रस की आवश्यकता और प्रभाव के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि रस जीवन का सार है और जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया कलाप हैं उनकी प्रेरणा और लक्ष्य रस में निहित है। अपने लक्ष्य-पूर्ति के साधन जुटाने में ही हम अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देते हैं और लक्ष्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते हैं। भरत मुनि ने तो कहा भी है- *न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।* (-भरत मुनि)

वास्तव में जीवन को जीवन बनाने के लिए रस अनिवार्य है। रस-सिद्धान्त भारतीय काव्य शास्त्र का प्राचीनतम् सिद्धान्त है। लेकिन इसे काव्य में व्यापक प्रतिष्ठा बाद में प्राप्त हुई है।

रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं जैसा पहले कहा गया है *वाक्यं रसात्मकं काव्यम्* अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। *रसौ वै सः* इस वैदिक श्रुति के आधार पर रस को आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही माना गया है। इसी श्रुति वाक्य के आधार पर भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में ब्रह्म-रस का विवेचन किया। आत्मा के विकास के लिए, सामूहिक उल्लास के लिए, संवेदनशीलता के प्रसार और मानसिक संस्कार के लिए रस अनिवार्य है।

लोक में प्रचलित खाद्य पदार्थों में लवण, तिक्त, मधुर, कशाय आदि षड्रस तथा आयुर्वेदीय रस जीवन के लिए आवश्यक तत्व हैं। रस मीमांसा का सम्पूर्ण आधार भरत मुनि का रस सूत्र ही है। भरत का लब्ध प्रतिष्ठ रस सूत्र है- *विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रस निष्पत्तिः।*

* असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, एस. आर. डी. ए. के. पी. जी. कॉलेज हाथरस (उत्तर प्रदेश) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत मुनि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह रस की निष्पत्ति नाना भावों के उपगम से होती है- *नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।।* (-नाट्यशास्त्र 6/31-32)

अर्थात् जिस प्रकार अनेक व्यंजनों और औषधियों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है जैसे गुड़ आदि द्रव्यों और औषधियों से छः रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अनेक भावों से उपगत होने से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। इस संदर्भ में उन्होंने दो श्लोक दिये हैं- *यथाबहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुंजाना भुंक्ते भुक्तविदोजनाः।। भावाभिनयसम्बंद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृता।।* (भरत मुनि -नाट्यशास्त्र)

भरत मुनि ने अपना मत उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है लेकिन बाद के आचार्यों में उनके दो शब्द- संयोग और निष्पत्ति पर विवाद हुआ। भरत मुनि के बाद रस की परिभाषा देने का प्रयास भानुदत्त मिश्र ने किया है। उन्होंने रस की तीन परिभाषायें दी हैं जो इस प्रकार हैं- *विभावाऽनुभावसात्विक भावव्यभिचारिभावैरूपनीयमानः परिपूर्णः स्थायी भावो रस्यमानो रसः। भावाविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामों यत्र क्रियते स वा रसः। प्रबुद्धस्थायिभाववसना वा रसः।।* (भानुदत्त मिश्र -रसतरंगिणी)

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारित भावों से उपचित, अनुभूतिगम्य एवं पुष्ट स्थायी भाव ही रस है। भाव, विभाव तथा व्यभिचारी भावों से जहॉ मन को विश्राम प्राप्त होता है वही रस है। प्रबुद्ध स्थायी भाव की वासना ही रस है।

भानुदत्त ने तीन परिभाषायें दी हैं जो भरत के आधार पर होकर भी व्यवहार का ध्यान करके दी गयी हैं। उन्होंने रंगमंच की स्थिति को ध्यान में रखा है और दर्शन की दृष्टि से भी परिभाषा दी है। विश्वनाथ ने भी प्रायः इसी प्रकार की परिभाषा दी है- *विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा। रसतायेति रत्यादि स्थायीभाव सचेतसाम्।।* (विश्वनाथ -साहित्यदर्पण)

अर्थात् सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित रति आदि स्थायी भाव जब कवि द्वारा वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव व्यक्त हो उठते हैं जब आस्वाद या आनन्द रूप हो उठते हैं तो रस कहलाते हैं।

सोमनाथ की रस विषयक परिभाषा भानुदत्त और विश्वनाथ से पर्याप्त मेल खाती है जो इस दोह में परिलक्षित है- *जहॅ विभाव अनुभाव अरू, पुनि संचारी भाउ। करत ब्यांगि थिरभाव को, सो इस रूप बताउ।।* (सोमनाथ -श्रृंगारविलास)

कहने का तात्पर्य यह है कि जहॉ विभाव, अनुभाव और संचारीभाव स्थायीभाव को व्यंजित करते हैं, वही वह स्थायीभाव रसरूपता को प्राप्त कर लेता है। यह संस्कृत का पुराना नियम है। दशरूपककार धनंजय ने भरत का समर्थन करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि स्थायी भावों के साथ मिलकर स्थायीभाव रस रूप में निष्पन्न होते हैं- *विभावैश्नुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः। आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।।* (-दशरूपक 3/1)

आचार्य मम्मट कहते हैं कि उन विभावादि के द्वारा अथवा उनके सहित व्यंजना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव रस कहा जाता है- *व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।* (-काव्यप्रकाश 4/28)

मम्मट रस विवेचन में परवर्ती काव्यशास्त्र अभिनवगुप्त के ही ऋणी हैं। मम्मट ने उन्हीं की विचारधारा का ही पल्लवन किया है। मम्मट का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त तथा भावपूर्ण है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी परम्परागत विचारों का ही निरूपण करते हैं। उनका मत है- सहृदयों के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होकर रसस्वरूप को प्राप्त होते हैं। अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण के सुन्दर, स्वच्छ प्रकाशित होने से रस का साक्षात्कार होता है। यही नहीं, वह तो अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर, स्पर्शशून्य, ब्रह्मस्वाद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार से युक्त होता है।

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द-चिन्मय। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः। लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। (-साहित्यदर्पण 312-3)

अभिनवगुप्त का रस-स्वरूप विवेचन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सभी परवर्ती आचार्य उन्हें ही आदर्श मान कर चले हैं। रस-विवेचन में अलौकिकता का समावेश करने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है।

रसस्वरूप के विषय में उनका मत संक्षेप में इस प्रकार है- लोक व्यवहार में रत्यादि भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे ही नाट्य अथवा काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। काव्य में निबद्ध होने पर इनका लौकिक

स्वरूप नष्ट हो जाता है और ये अलौकिक स्वरूप धारण कर लेते हैं। स्थायी भाव आस्वाद का विषय होने से रस न होकर, उसकी प्राप्ति का साधन है। यह रस स्मृति, अनुभाव, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न अलौकिक होता है। यह न कार्य है, न ज्ञाप्य, न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक। यह पूर्णतः आत्मविश्रांति रूप होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भावों की भूमिका में आत्मपरामर्श होने से जो संविद्विश्रान्ति होती है, वही रस है।

इस प्रकार रस के स्वरूप पर संस्कृत काव्यशास्त्र में पर्याप्त विचार हुआ है। उसके स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है :

1. रत्यादि संस्कार वासना रूप में सहृदय के हृदय में विद्यमान रहते हैं, इन्हें ही काव्यशास्त्रीय भाषा में स्थायी भाव कहा जाता है।
2. रस की निष्पत्ति सामाजिक के हृदय में तभी होती है, जब उसके हृदय में रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्वगुण का समावेश होता है।
3. रस अखण्ड होता है। यही कारण है कि उसमें मात्राभेद या कोटियाँ नहीं होती। रसानुभव काल में सहृदय पूर्णतः तन्मय बना रहता है।
4. रसवेद्यान्तरसम्पर्क शून्य होता है, अर्थात् रसानुभव काल में सहृदय को उस रस के अलावा और कुछ भी ज्ञात नहीं रहता।
5. रसस्वप्रकाशानन्द तथा चिन्मय है और इसीलिए उसे ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है, अलौकिक कहा गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में इस स्वरूप पर गहन विचार हुआ है, लेकिन रीतिकालीन आचार्य कवियों ने इस स्वरूप पर विचार ही नहीं किया है। कुछ आचार्य-कवियों ने तो रस की परिभाषा भी नहीं दी है। कवि सोमनाथ ने *श्रृंगारविलास* में स्थायीभाव की परिभाषा तो नहीं दी है लेकिन उसे स्थिर तथा सभी भावों का ठाकुर कहा है- *थिर अति थाई भाव बरवानौ। सब भावनि को ठाकुर जानौ।।*

वस्तुतः तथ्य यह है कि जीवन के सुव्यवस्थित निर्माण के लिए *रस* अनिवार्य है। रस से रहित जीवन, जीवन ही नहीं रह जाता है चाहे वह आध्यात्मिक जगत हो अथवा लौकिक जगत। जीवन की गति भी रस के कारण ही है। जिस प्रकार नाना पदार्थों से तैयार किये हुए व्यंजन से रस की प्राप्ति होती है उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों से रस की निष्पत्ति होती है। अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न से आनन्द की प्राप्ति होती है उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के आस्वादन से सहृदयजन को रस का आनन्द प्राप्त होता है। प्रथम आस्वाद की प्रक्रिया स्थूल तथा दूसरे की सूक्ष्म है।

रस शब्द *रस्* धातु और *अ* प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अतएव *रस* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है- *रस्यते आस्वाद्यते रसः* अर्थात् वह जो आस्वादित किया जाए वह रस है।

इस सम्बन्धित निरूपण में आचार्य विश्वनाथ का मत ही सार्थक लगता है। उनका आशय यह है कि दस का आस्वादन होता है, अतः वह रस है, रस आस्वाद रूप है- *रस्यते आस्वाद्यते इति रसः* और इस रस के आस्वादकर्त्ता सहृदय ही होते हैं। इसी भाव को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस कारिका द्वारा व्यक्त किया है- *सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनान्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्म सन्नियः।।*

कहने का अभिप्राय यह है कि रस का आस्वादन सहृदय को ही सम्भव है। उनका *सवासनां सभ्यानां* कथन सहृदय-हृदय का ही द्योतक है। रस सहृदय संवेद्य है। रस की निष्पत्ति सत्वगुण की अधिकता से होती है तथा आस्वाद सदा ही अनिवार्यतः आनन्दमय ही होता है और यह आनन्द, अखण्ड, चिन्मय तथा वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है। अखण्ड से तात्पर्य-विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी आदि भावों की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती है अपितु सभी की समन्वित अखण्ड अनुभूति होती है।

इस अनुभूति में परिमाण का भेद भी नहीं रहता। रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है। अन्यान्य आचार्यों के साथ ही आचार्य विश्वनाथ रसों की विलक्षणता का प्रतिपादन करने के साथ करूणादि रसों की अनुभूति भी सुखकारक मानते हैं- *करूणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्। सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।*

रसमीमांसा में डा0 भगवान दास ने लिखा है कि, ''भाव, क्षोभ, संरम्भ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश आदि का अनुभव रस नहीं है किन्तु उस अनुभव का स्मरण प्रतिसंवेदन, आस्वादन, रसन, रस है।'' संस्कृत साहित्य में रस की व्युत्पत्ति, ''रसते इति रसः'' की जाती है। जिसके अनुसार रस स्वतः स्फुरित होने वाला तत्व है। आचार्य मम्मट ने ''काव्यप्रकाश'' में रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि रस न ज्ञाप्य है न कार्य, ज्ञाप्य और कार्य भी हो सकता है। न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष, न निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक। अतएव किसी लौकिक परिभाषा आबद्ध न होने के कारण यह अनिवर्चनीय है, अलौकिक है। ब्रह्मानन्द सहोदर है। निर्वितर्क समाधि का नहीं, क्योंकि उसमें तो अहंकार में भी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है। परन्तु रस में ऐसा नहीं होता। (-काव्यप्रकाश की व्याख्या, 4-27-28)

रस के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द की कल्पना का मूल स्रोत *तैत्तिरीय उपनिषद्* है। *रसौ वै सः* कहकर इस उपनिषद् में ब्रह्म को ही आनन्द या रस को रूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है।

आचार्यप्रवर डा0 नगेन्द्र ने काव्यानन्द के सम्बन्ध में पॉच सिद्धांत इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :

1. काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत के प्रवर्तक प्लेटो हैं और आधुनिक युग में समर्थन ड्यूवाय ने किया है। इसके अनुसार काव्य का कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा कि सर्वत्र देखने से मिलता है।
2. काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द का ही रूप है। आत्मा सहज सौंदर्य रूप है- सहज आनन्द रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है। अतः यह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। अधिकांश विद्वान इसी मत को सत्य मानते हैं। हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है। अभिनव, मम्मट और जगन्नाथ का भी यही मत है।
3. काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसका काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह अरस्तू से प्रेरित एडीसन का मत है। क्रोंचे ने इसी को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत कर काव्यानन्द को सहजानुभूति का आनन्द माना है।
4. काव्य का आनन्द सभी प्रकार के लौकिक और आध्यात्मिक अनुभवों से भिन्न एक प्रकार का विलक्षण आनन्द है जो सर्वथा निरपेक्ष है। विलक्षण अनुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति को एक मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह विलक्षण अनुभूति लौकिक आनन्द से ही नहीं, आध्यात्मिक आनन्द से भी विलक्षण है। (-रससिद्धान्त, पृष्ठ संख्या 116)

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को आत्मिक आनन्द का प्रतिरूप माना गया है, इसलिए उसे अनिवर्चनीय, अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर आदि विशेषण प्रदान किए गये हैं। इस प्रकार अभिधावादी भट्टनायकादि भी रस को महत्व देते हैं और व्यंजनावादी आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्तादि भी। हिन्दी के आचार्यों ने तो रस को प्रधान महत्व दिया ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो रस की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था के रूपों में मानते हैं। वास्तव में काव्य से प्राप्त आनन्द ही रस है और उस आनन्द में तन्मयता ही रसानुभूति और रसास्वाद है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

भरत मुनि -*नाट्यशास्त्र*
भानुदत्त मिश्र -*रसतरंगिणी*
विश्वनाथ -*साहित्यदर्पण 312-3*
कवि सोमनाथ -*श्रृंगारविलास*
मम्मट -*काव्यप्रकाश 4/28*
धनंजय -*दशरूपक 3/1*

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,12-14
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 08 अप्रैल 2016

शिक्षक : एक पथ प्रदर्शक

जय प्रकाश नारायण* एवं नरेन्द्र कुमार चौरासिया**

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *शिक्षक : एक पथ प्रदर्शक* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखक *जय प्रकाश नारायण एवं नरेन्द्र कुमार चौरासिया* घोषणा करते हैं कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेते हैं, क्योंकि हमने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देते हैं। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह हमारी मौलिक कृति है। हम शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देते हैं। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देते हैं।

''एक अध्यापक सच्चे अर्थों में तब तक अध्यापन कार्य नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं अध्ययन नहीं करता हो एक दीपक दूसरे दीपक को तब तक प्रज्जवलित नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं जलना जारी न रखें।'' -रविन्द्रनाथ टैगौर

प्राचीन काल में अध्यापक को शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया जाता था और बालक को गौण समझा जाता था शिक्षा का अर्थ बालक के मस्तिष्क को ज्ञान से भरना था। बालक को तथ्यों व सिद्धान्तों को कण्ठस्थ कराना पड़ता था और यही उसकी शिक्षा की पूर्णता मानी जाती थी, शिक्षा देने में बालक की आयु रूचि, योग्यता और रूझान को किंचित भी महत्व नहीं दिया जाता था अर्थात् शिक्षा बाल केन्द्रित न होकर ज्ञान केन्द्रित थी, किन्तु आज शिक्षा की धारणा बदल गयी है आज हम शिक्षा शब्द का प्रयोग नवीन अर्थ में करते हैं जो प्राचीन सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न व वैज्ञानिक हैं।

प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया माना था, शिक्षक अध्यापन व पथ प्रदर्शन करता था, एक दूसरे के सहयोग के बिना वे अपने लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकते थे, दोनों के कार्यों का समान महत्व था।

आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा में बालक को प्रमुख स्थान दिया है शिक्षक केवल पथ प्रदर्शक का कार्य करता है इसका समर्थन गांधी जी ने भी किया है गांधी जी के अनुसार, ''शिक्षक को बालक का मित्र, परामर्श दाता और पथ-प्रदर्शक होना चाहिए उसे मैत्रीपूर्ण ढंग से बालक के मनोभावों के अनुसार क्रिया करनी चाहिए उसे बालक की चिन्ताओं के प्रति उदासीन न होकर उनसे मुक्त होने का परामर्श देना चाहिए।''

वास्तव में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें शिक्षक और शिक्षार्थी का अलग-अलग महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा का 'साध्य' बालक है और 'साधन' शिक्षक। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बालक की योग्यता, रूचि, क्षमता, रूझान आदि के अनुसार पाठ्यक्रम का तथा शिक्षण विधियों का निर्माण किया जाना चाहिए।

* प्रधानाचार्य, पी. सी. पी. एम. इण्टर कॉलेज [दरियापुर] फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) भारत
** तदर्थ प्रधानाचार्य, जनप्रिय औ. इण्टर कॉलेज [असधना] कानपुर नगर (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

बचपन से ही सदाचार और भगवद् विश्वास के बीज बच्चों में अंकुरित पल्लवित एवं पुष्पित होने लगते हैं, इन बीजों का रोपण करने वाले उनके माता-पिता और अध्यापक ही होते है। उनके आचरणों का बालक पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ता है। इन गुणों से विभूषित बच्चे राष्ट्र को सही दिशा देते हैं।

शिक्षक ही शिक्षा जगत में महत्वपूर्ण साधन है जिस पर समस्त शैक्षिक ढांचा निर्भर करता है। वर्तमान शिक्षा, विद्यार्थियों पर इस प्रकार केन्द्रित है जिसमें सभी प्रकार से उनकी शिक्षा प्रणाली के द्वारा उनकी शिक्षा में सुधार हो और इसमें प्रभावोत्पादकता आयें यह तभी सम्भव हो सकता है जब शिक्षक अपने कार्य सन्तोषजनक ढंग से करें। यदि शिक्षक कमजोर या अप्रभावी होगा उसमें वांछित अभिक्षमताओं एवं गुणों का अभाव होगा तथा शिक्षा का सम्पूर्ण ढांचा चरमरा जायेगा। एक प्रभावी शिक्षक ऐसा साधन है जिससे शिक्षा में निरन्तर प्रगति हो सकती है। स्वतंत्रता के पश्चात् सरकार ने करोड़ों रूपये नये विद्यालय खोलने एवं उन्हें सुविधायें प्रदान करने पर खर्च किये है। साथ ही विभिन्न शिक्षा आयोगों के गठन एवं समितियों के निर्माण पर लाखों रूपये खर्च किये हैं जिससे वे ऐसे सुझाव एवं तरीके बताए जिससे शिक्षा में सुधार हो सके।

शिक्षा आयोग (1964-66) और राष्ट्रीय शिक्षा योजना (1968) तथा नई शिक्षा प्रणाली (1986) में इस बात पर बल दिया गया है- कि समानता के लक्ष्यों, व्यवहारिक विकास, भारतीय समाज के उद्देश्यों की पूर्ति तभी सम्भव हो सकती है जब तक शिक्षा अधिक आकर्षक और प्रभावी हो। शिक्षा से लोगों को अवसर मिलता है कि वे जटिल सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक समस्यायें जो मानव समाज को प्रभावित करती हैं उनको दूर किया जा सके।

शिक्षक की भूमिका

शिक्षक कोई नवीन शब्द नहीं है। प्राचीन काल से ही हमारे समाज में शिक्षक की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्राचीन काल से आज तक शिक्षक की आवश्यकता और उसके महत्वपूर्ण योगदान को नकारा नहीं जा सकता। वास्तव में बालक के सर्वांगीण विकास में शिक्षक की एक अहम् भूमिका होती है सच ही कहा गया है कि *एक शिक्षक हमारे समाज सुधार की कुंजी है।*

शिक्षक शैक्षिक प्रक्रिया का प्रमुख अंग रहा है। कोई भी युग ऐसा नहीं रहा है, जिसमें शिक्षक न हो। प्राचीन काल से शैक्षिक विचारों में परिवर्तन होता रहा है। विचारों के परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षक की स्थिति में भी परिवर्तन आता रहा है। वैदिक व ब्राह्मण काल में शिक्षा, शिक्षक केन्द्रित थी, शिक्षक को मुख्य स्थान प्राप्त था एवं सम्पूर्ण शैक्षिक प्रक्रिया का केन्द्र शिक्षक ही था। गुरूकुल प्रणाली में शिक्षक वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करता था, बालक उन्हीं मन्त्रों को दोहराते थे। शिक्षक की अनुपस्थिति में शैक्षिक प्रक्रिया रूक जाती थी शिक्षक अपनी इच्छा के अनुसार समस्त परिस्थितियों का नियन्त्रण करता था।

बौद्ध काल में भी शिक्षक की स्थिति सम्मानपूर्ण थी। बौद्ध, भिक्षु, भिक्षुणियों को शिक्षा देने के लिए शिक्षक (प्रमुख भिक्षु) होता था। शैक्षिक प्रक्रिया का पूरा पूरा नियंत्रण शिक्षक का था।

मुगल (मुस्लिम) काल में शिक्षक एक योग्य कलाकार होता था। इस काल में शिक्षक कलात्मक व ज्ञानात्मक उद्देश्यों को पूर्ण करता था। शिक्षक की स्थिति इस युग में भी सम्मानपूर्ण थी। किन्तु इस काल में शिक्षा कुछ अंश में पुस्तक केन्द्रित भी बन गई थी। अर्थात् शिक्षा पूर्णतया शिक्षक केन्द्रित नहीं रही।

ब्रिटिश काल में शिक्षा का स्वरूप पुस्तक केन्द्रित हो गया, जिसके परिणाम स्वरूप शिक्षक का गौण स्थान हो गया। शिक्षक की सम्मान पूर्ण स्थिति में कुछ कमी आ गयी। शिक्षक की अनुपस्थिति में भी पुस्तकों की सहायता से शिक्षा प्राप्त की जाने लगी, किन्तु शिक्षक उस समय भी अवश्य थे। शिक्षक का कार्य शिक्षण के साथ-साथ निर्देशन देना भी बन गया। शिक्षक पुस्तकों की सहायता से कुछ परिस्थितियों में केवल निर्देशन मात्र देने लगा।

वर्तमान काल की परिस्थितियाँ पूर्णतया विपरीत हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रभाव है। शिक्षा का क्षेत्र भी इस विचार से प्रभावित हुआ है आज की शिक्षा ''बाल केन्द्रित है''। बालक को प्रमुख स्थान दिया जाता हैं। शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था बालक की रूचि, मानसिक व शारीरिक क्षमता, वातावरण आदि के अनुसार व्यवस्थित की जाती है। अतः अब शिक्षा में शिक्षकों का गौण स्थान है। परिणाम स्वरूप शिक्षक के सम्मान में कमी आई है। सामाजिक क्षेत्र में भी शिक्षक की स्थिति में गिरावट आई। किन्तु शैक्षिक परिस्थितियों में शिक्षक अब भी शिक्षा का एक प्रमुख अंग है। शिक्षक के बिना आज भी शिक्षा प्रक्रिया के पूर्ण सफल होने की आशा नहीं की जा सकती है।

अध्यापक के महत्व को प्रतिपादन करते हुए डा0 सईदन ने लिखा है कि, ''यदि किसी देश की जनता का सांस्कृतिक स्तर परखना हो तो हमें यह देखना चाहिए कि उस समाज में अध्यापकों का सामाजिक पद क्या है।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी देश की उन्नति, वहां के निवासियों के चरित्र निर्माण का दायित्व अध्यापकों पर ही होता है।

अधिक स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि *शिक्षक राष्ट्ररूपी नौका के चालक हैं जो देश को जिस दिशा में चाहे ले जा सकते हैं।*

जिस प्रकार शिक्षा शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है जिसमें मनन, चिंतन एवं विवेचन शब्द निहित है। इसी प्रकार शिक्षक शब्द भी बहुत से आदर्शों को अपने में लपेटे हुए है जिनकी उपलब्धि का चमोत्कर्ष शिक्षार्थी की शिक्षा में परिलक्षित होता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं *दर्पण में जैसा अपना प्रतिबिम्ब झलकता है उसी प्रकार विद्यार्थी की उपलब्धियों या सफलताओं में शिक्षक की कर्तव्य निष्ठा एवं योग्यता की झलक मिलती है।*

बालकों में वांछित गुणों के विकास में अध्यापक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर शिक्षक के विचारों, व्यवहार तथा व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव पड़ता है। अध्यापक जिस प्रकार से अपना व्यक्तित्व छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करेगा, उसी के आधार पर उनके व्यक्तित्व का विकास होगा अर्थात् छात्र पर अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। शिक्षक के नाम से ही एक आदर्श गुणों से सम्पन्न, योग्य तथा सुशिक्षित व्यक्ति की तस्वीर मस्तिष्क पटल पर उभरती है। एक अध्यापक छात्रों को आदर्श रूप में तभी प्रभावित कर सकता है जब कि वह स्वयं में आदर्श गुणों का भण्डार हो। अतः यह आवश्यक है कि अध्यापक में आदर्श मूल्यों का विकास होना चाहिए क्योंकि एक आदर्श शिक्षक ही छात्रों की उन्नति कर सकता है, छात्र को एक आदर्श राष्ट्रीय नागरिक बना सकता है।

गांधी जी ने शिक्षक के सम्बन्ध में कहा था कि *तुम जो दूसरों से करवाना चाहते हो उसका प्रयोग स्वयं करो तुम असत्य भाषण करोगे तो तुम्हारी बात का प्रभाव कहीं नहीं होगा।*

यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य को शारीरिक जन्म देने वाले माता-पिता होते हैं लेकिन सब लोग इस बात से भी पूर्ण परिचित है कि बालक का ज्ञान जन्मदाता अध्यापक ही होता है और ज्ञान जन्म शारीरिक जन्म की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना जाता है। इस दृष्टि से भी शिक्षक का स्थान सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। अधिक स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि *शिक्षा की किसी भी योजना में शिक्षक का केन्द्रीय स्थान होता है।*

References

Agarwal Makhija (1993); *Experimental Psychology: Jainsons Prints,* Agra-3

Best, J.W. (1963); *Research in Educations : New Delhi,* Prentice Hall.

Buch, M.B. (1991-92); *Forth Survey of Research in Education : New Delhi,* NCERT, Vol.II

Jaiswal,S (1995); *Education Psychology:* Lucknow Publications Centre.

Mittal, M.L. (1995); *Principles of Education :* Meerut Eagle Books International.

Pathak, P.D. (1993-94); *Problems of Indian Education :* Agra Vinod Pustak Mandir.

Rohela (1986); *Human Values and Education:* New Delhi.

Sharma, R.A. (1992-93); *Research in Education : Meerut,* Daya Printings Press.

Sharma, R.A. (1995); *Teacher Education : Meerut,* Prentice HALL.

Singh A.K. (1994); *Educational Psychology: Patna,* Bharti Bhawan.

Sprit Hall (1964); *"Comparison of Values Among Teachers, Academic Achievers and Academic under Achievers,* "Jr. of Experimental Education, 33,2.

Srivastava, J.C.; *"What values shall we inculcate in our Children,"* The Teachers Speaks, "N.C.E.R.T., New Delhi, 2, 103-112.

Sinha, Stogdill & Shartle (1970); *"A F Actorial Study of Cross Cultural Values and Related Biographical Data."* Indian Jr. of Psy, 45, IV, 281, 94.

Verma, R.P. (1972); *"A Study of relationship between the patterns of Interpersonal relations and the values of teachers and students,"* Ph.D. thesis, Agra University.

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,15-18
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 05 अप्रैल 2016

संगीत शिक्षा द्वारा मानव विकास की सम्भावनाएँ

डॉ. पौलमी चटर्जी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *संगीत शिक्षा द्वारा मानव विकास की सम्भावनाएँ* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *पौलमी चटर्जी* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

बालक के सर्वांगीण विकास हेतु संगीत कला एक सशक्त माध्यम स्वरूप है। संगीत एक ऐसी कला है जो सहज ही प्राणी को अपनी ओर आकर्षित करने की अद्‌भुत क्षमता रखता है। संगीत की इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए यदि शिक्षा के माध्यम से इसका प्रयोग मनुष्यों के जीवन में किया जाए तो अवश्य ही सकरात्मक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को विकसित करने में संगीत अत्यंत प्रभावी सिद्ध हो सकता है। शिक्षा के माध्यम से संगीत की इस प्रभावोत्पादकता में महत्त्वपूर्ण रूप से वृद्धि हो जाती है क्योंकि मनुष्य को जिस वस्तु का जितना अधिक ज्ञान होता है, उस पर उस वस्तु का उतना ही अधिक प्रभाव भी देखने को मिलता है। केवल संगीत को सुन लेने और उसे सुनकर समझने में अंतर है और यही अंतर संगीत के प्रभाव में भी दृष्टिगोचर होता है। अतः शिक्षा के माध्यम से संगीत मानव व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का बेहतर ढंग से विकास कर सकता है।

शारीरिक एवं गामक विकास में संगीत

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन एवं नृत्य व्यायाम का अच्छा विकल्प हैं।

गायन को एक प्रकार का योगाभ्यास माना जाता है। यही नहीं, वक्ष तथा कंठ संस्थान के समीपवर्ती अंग-प्रत्यंगों के व्यायाम का उपयुक्त साधन भी है गायन। गान क्रिया में नियमित व नियंत्रिक श्वासोच्छवास की क्रिया का विशेष महत्त्व है जो प्राणायाम का ही एक रूप है। स्वरोत्पत्ति की क्रिया से स्नायु तंत्र का सीधा संबंध होता है, अतः विभिन्न स्वरों के उच्चारण से शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का व्यायाम होता है।

* पूर्व शोध छात्रा [गायन विभाग] संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

विभिन्न अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि गायन का विधिपूर्वक अभ्यास रक्त संचार को सुचारू बनाने, पाचन क्षमता बढ़ाने तथा पेट की मांसपेशियों को पुष्ट बनाने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त गायन के अभ्यास से कंठ एवं हृदय संबंधी रोगों से भी निजात पाया जा सकता है।

संगीत के सात स्वर शरीर में स्थित सात चक्रों व बिंदु विसर्ग स्थान को जाग्रत करते हैं और इस प्रकार ध्यान (Meditation) का बेहतर विकल्प सिद्ध होते हैं।

गायन की ही भांति वादन भी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यंत लाभदायक है। बाँसुरी, शहनाई, बीन आदि मुँह से बजाए जाने वाले वाद्यों को बजाने से श्वास नली व फेफड़े मजबूत होते हैं। हाथ से बजाए जाने वाले विभिन्न वाद्य अंगुलियों के कुशल संचालन का अभ्यास कराने के साथ ही एक्यूप्रेशर (Accupressure) का कार्य भी करते हैं।

गायन एवं वादन के दौरान प्रयोग में लायी जाने वाली विभिन्न मुद्राएँ विभिन्न योगासानों की भांति हैं जो रीढ़ की हड्डी को सुदृढ़ बनाने के साथ ही एकाग्रता में भी वृद्धि करती है।

नृत्य भी गायन-वादन के समान ही मृदु व्यायाम है। इससे शरीर का पूर्ण व्यायाम हो जाता है। नृत्य करने से रक्त संचालन की प्रक्रिया तेज हो जाती है जिसका बालकों के शरीरिक विकास में विशेष महत्त्व है। नृत्य शरीर को सुगठित, सुडौल व लचीला बनाने के साथ ही शारीरिक दमखम (Stamina) को भी बढ़ाता है। नृत्य की विभिन्न मुद्राओं व गात्र विक्षेप द्वारा शरीर के सभी अंगों का उचित रूप से चालन हो जाता है जिससे शरीर के सभी जोड़ दुरूस्त होते हैं।

सुशीला कटारिया (2008) के अनुसार नृत्य एक प्रकार का एरोबिक (Aerobic) व्यायाम है जो वजन कम करने में सहायता करता है। विभिन्न शोध अध्ययनों के निष्कर्ष से यह भी प्रमाणित हुआ है कि संगीत शरीर के रोग-प्रतिरोधक तंत्र (Immune System) की क्षमता को बढ़ाता है क्योंकि संगीत सुनने अथवा करने के दौरान शरीर में कुछ ऐसे हार्मोन्स (Hormones) का स्राव होता है जो मानव शरीर के रोग-प्रतिरोधक तंत्र को मजबूत बनाते हैं।

मानसिक एवं ज्ञानात्मक विकास में संगीत

मानव शरीर में मन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक है। इसे मानसिक क्रियाओं के केन्द्र के रूप में समझा जा सकता है।

मानव शरीर तथा मन दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है तथा मन की अवस्था का प्रभाव भी सर्वप्रथम शरीर पर ही पड़ता है। संगीत का सकारात्मक प्रभाव शरीर के साथ-साथ मन पर भी देखने को मिलता है। लॉरेन्स वॉल्टर्स (Lawrance Walters) के अनुसार, Music very definitely produces measurable effects on the brain and mind.

जापानी चिकित्सकों द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार गायन के दौरान मस्तिष्क में *एंडार्फिन्स* नामक रसायन का अधिक स्राव होता है जिससे मस्तिष्क की सक्रियता में वृद्धि होने के साथ ही मन भी प्रसन्नचित्त रहता है।

नीदरलैण्ड्स में हुए एक सर्वेक्षण के अनुसार नियमित रूप से संगीत सुनने व सीखने से शरीर व मन में तनाव पैदा करने वाले रसायन निष्प्रभावी होते हैं। अतः संगीत मानसिक शांति देने का एक उपयुक्त साधन है।

संगीत में मानव मन को एकाग्र करने की क्षमता होती है जिसका सीधा व सकारात्मक प्रभाव मनुष्य के ज्ञानात्मक स्तर पर दिखायी पड़ता है।

मानसिक अथवा ज्ञानात्मक विकास के अंतर्गत भी कुछ विकास क्षेत्र आते हैं जिनका संबंध मन से ही होता है, वे हैं :

स्मृति का विकास; स्मृति मानसिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है जिसके बिना बुद्धि का कोई अस्तित्व नहीं।
संगीत मनुष्य के ध्यान के स्तर (Concentration Level) को बढ़ाता है और ध्यानपूर्वक सीखी गयी कोई भी चीज दीर्घकाल तक स्मृति में बनी रहती है।

भाषागत विकास; संगीत को भाषा विकास का भी उत्तम साधन माना गया है। विभिन्न भाषाओं में रचित गीतों के माध्यम से बालक सरलतापूर्वक विविध भाषाएँ सीख लेते हैं।

ध्रुपद गायन में प्रयुक्त होने वाले 'री र ना नूम्' जैसे मंगलार्थक अक्षरों एवं तराना गायन में प्रयोग किये जाने वाले 'तन दिर दानी' जैसे निरर्थक अक्षरों के द्रुत प्रयोग से जीभ में लचीलापन आता है जिसकी परिणति उच्चारण की स्पष्टता में होती है।

भाषा शिक्षा के अंतर्गत केवल ध्वनियों का उच्चारण ही यथेष्ट नहीं होता बल्कि वाक्योच्चारण का भी महत्व होता है जिसमें एक ही वाक्य को कई प्रकार से बोल कर विविध अर्थों का पालन भी किया जाता है। उदा0 :

वह आ रहा है। - सूचना मात्र

वह आ रहा है? - प्रश्न सूचक

वह आ रहा है! - आश्चर्य सूचक

संगीत में इसी क्रिया को काकु भेद के अंतर्गत समझा जाता है। ठुमरी गायन में इसका सर्वाधिक प्रयोग सुनने को मिलता है जिसमें एक छोटी सी बंदिश के शब्दों की पुनरावृत्ति विभिन्न भावों के साथ की जाती है। अतः संगीताभ्यास से सुर, मात्रा व बलाघात की समझ बढ़ती है जिसका उपयोग भाषा प्रयोग में भी होता है।

संगीत स्वयं एक भाषा है जो भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है। पी0 साम्बमूर्ति (1966) के अनुसार, Music is a language by itself and is capble of expressing subtle thoughts and refined ideas.

यह संगीत ही है जिसे 'विश्व भाषा' (Universal Language) की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

नैतिक विकास; संगीत द्वारा बालकों का नैतिक विकास संभव है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में अन्य विषय जहाँ बालक के बौद्धिक कौशल में वृद्धि करते हैं, वहीं संगीत उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर सुदृढ़ आधार प्रदान कर उनका नैतिक एवं चारित्रिक विकास करता है जिसके अभाव में मानव विकास संभव नहीं है।

पी0 साम्बमूर्ति (1966) के अनुसार, Music is a refresher of the mind. It elevates the soul. It (Music) has a humanising influence and is a powerful factor in the moulding character.

सौंदर्यात्मक विकास; संगीत द्वारा मनुष्य में सौंदर्य बोध दृष्टि का विकास किया जा सकता है। स्वरों तथा रागों के माध्यम से अभिव्यक्त तथा निष्पन्न होने वाले विविध भाव व रस, रागों के काल्पनिक चित्रण, बंदिशों में निहित नायक- नायिका भेद आदि के माध्यम से संगीत मानव मन को सौंदर्यानुभूति करने में सक्षम बनाता है और इस सौंदर्य बोध का गहरा सकरात्मक प्रभाव मनुष्य के व्यवहार, आचरण, दृष्टिकोण व उसके संपूर्ण व्यक्तित्व में स्पष्ट दिखायी देता है।

वी0 हॉर्नर (V.Horner) के अनुसार, Music education is concerned with musical literacy, entertaining creating of music and the emotional and aesthetic growth of the pupil as well as the enjoyment of music.

संवेगात्मक विकास में संगीत

संगीत मानव मन के नकारात्मक भावों का दमन कर उसके सकारात्मक भावों को जगाता है। इस प्रकार संगीत मनुष्य को अपने संवेगों को नियंत्रित करने में सहायता करता है। संगीत भावाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य एक-दूसरे के हृदयगत स्थूलोसूक्ष्म भावों को प्रकट करते व समझते हैं। जी0 कुप्पुस्वामी एवं एम0 हरिहरन के अनुसार, It (Music) provides means for the child to express his ideas, feelings and emotions and helps him to appreciate beauty in the world round about him and to develop confidence in his own abilities.

वास्तव में संगीत मानव मस्तिष्क के थैलेमस (Thalamus) को प्रभावित करता है जो मनुष्य की भावनाओं, संवेदनाओं व अनुभवों के प्रस्फुटन का केंद्र है।

भाव व संवेग मनुष्य की जन्मजात शक्तियाँ हैं जिनका उचित विकास संगीत के माध्यम से किया जा सकता है। अन्य शब्दों में संगीत मनुष्य को संवेगात्मक रूप से परिपक्व बनाता है।

संगीत द्वारा मानव विकास की यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि जहाँ अन्य विषय बालक को पहले बौद्धिक स्तर पर और फिर संवेगात्मक स्तर पर परिपक्व बनाते हैं, वहीं संगीत बालक को सर्वप्रथम संवेगात्मक स्तर पर परिपक्व बनाता है और फिर उसे बौद्धिक विकास की ओर अग्रसर करता है जिसके दूरगामी सकारात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं।

सामाजिक विकास में संगीत

एक सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य का सामाजिक स्तर पर विकसित होना अत्यंत आवश्यक है।

संगीत मनुष्य में सामाजिकता को बढ़ाता है। कनाडा में हुए एक शोध के अनुसार गीत गुनगुनाने वाले लोग अधिक सामाजिक व मिलनसार होते हैं।

आर0सी0 मेहता मानव के लिये सामाजिक और सांस्कृतिक शिक्षा की आवश्कता पर बल देते हैं और संगीत इसमें सहायक सिद्ध हो सकता है।

पी0 साम्बमूर्ति (1966) के शब्दों में, Music is a social virtue and a civilized virtue. It enables the individual and develops a sense of humility. It diminishes the arrogance (ego) within him and makes him more dignified.

वृंदगान, वृंदवादन, समूह नृत्य इत्यादि में प्रतिभागिता मनुष्य को अधिक सामाजिक बनाने के साथ ही उसमें आत्मविश्वास व नेतृत्व क्षमता का भी विकास करती है और इस प्रकार उसके समग्र व्यक्तित्व को विकसित व संतुलित बनाती है।

संदर्भ

पाठक, पी0डी0 (1995) -*शिक्षा मनोविज्ञान,* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

माथुर, एस0एस0 (2007/08) -*शिक्षा मनोविज्ञान,* अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा

श्रीवास्तव, रामजी एवं अन्य (2002) -*आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान,* मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

DYSON, ROSAMUND SHUTER & GABRIEL, CLIVE (1981), *The Psychology of Musical Ability,* Methuen & Co. Ltd., London

HOFFER, CHARLES R. (1979), *A Concise Introduction to Music Listening,* Wadsworth Publishing Company, Belmont

MILLER, HUGH M.(1969), *Introduction to Music : A Guide to Good Listening,* Barnes & Noble, Inc., New York

SWANWICK, KEITH (1997), *Music, Mind and Education,* Routledge, London

भाषा शिक्षण तथा भाषा विज्ञान, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा 1968 में आयोजित संगोष्ठी में पठित लेखों का सम्पादित संग्रह, तृतीय संस्करण

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,21-25
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 06 अप्रैल 2016

समाज की संरचना के आधार एवं आधुनिक समाज के आचरण की वास्तविक स्थिति

डॉ. हेमराज*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *समाज की संरचना के आधार एवं आधुनिक समाज के आचरण की वास्तविक स्थिति* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *हेमराज* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

सारांश

सामाजिक सरंचना के आधार मनुष्य एवं समाज हैं। मनुष्य में समाज है और समाज में ही मनुष्य का अस्तित्व प्रखर बनकर प्रगम होता है। व्यक्तियों के अधिकार एवं कर्तव्य समाज में ही संभव हैं। समाज एक वास्तविकता है जिसमें स्वाधीन मनुष्य अपने योगदान के साथ-साथ सफलता की सीढ़ियों पर चढ़ता-उतरता रहता है। परंतु कई बार इसकी जटिल संरचना मनुष्य की प्रगति में कठोरता के कारण अवरोधक बन जाती है, जैसे समानता और धर्मिक निर्पेक्षता को क्रियान्वयन करने से समाज में दुर्गम परिस्थितियां पनप पड़ती हैं। आधुनिक समाज का आचरण वास्तविकता का जो दर्पण है उसमें आचरण का चरित्र अस्पष्ट और धुंधला दिखाई दे रहा है, जैसे एन.जी.ओ. द्वारा लोगों का शोषण करना, बड़ी-बड़ी कंपनियों द्वारा लाभ का 2 प्रतिशत निर्धनों के लिए खर्च न करना, समानता और आरक्षण के विरुद्ध भयंकर परिस्थितियों पैदा करना, शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रबंध को व्यापारी लोगों के हाथों में सौपना आदि, आम जनता के हित में नहीं है। ऐसी सब परिस्थितियों में समाज और छात्रों के बीच आदर्श शिक्षक एक ऐसा धुरा है जो समाज का उचित मार्गदर्शन कर सकता है, यदि वह तन-मन से इस कार्य को अपनी दृढ़ शक्ति द्वारा क्रियान्वयन करने की ठान ले तो।

समाज की सरंचना व्यक्तियों द्वारा संभव होती है। व्यक्ति समाज की ईकाई है और समाज उसका संगठनात्मक स्वरुप है। समाज मानव जीवन की दिशाओं का आधार बनता है और मनुष्य की विवेक शक्ति उसे सर्वोच्चता का स्थान प्रदान करने में सहायक होती है। जीवन की वास्तविक इकाई मनुष्य है, जिसके अंदर एक धड़कता हुआ मानवीय हृदय, संकल्प, विशाल गौरवों और अनजानी वेदनाओं की भावना विद्यमान है। मनुष्य में समाज है और समाज मनुष्य में है। मनुष्य अपने आपको पूर्ण बनाने, अपना शासन स्वयं करने और सामाजिक निर्माण के कार्य करने में सदैव प्रयत्नशील रहता है ताकि उसका उचित विकास निश्चित

* [सेवा निवृत्त] प्रधानाचार्य, श्रीमती ज्वाला देवी बी.एड्. कॉलेज [संघोल-ऊँचा पिण्ड] फतेहगढ़ साहिब (पंजाब) भारत। (सदस्य सम्पादक मण्डल)

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

तौर पर हो सके। व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य समाज में ही संभव हैं। समाज एक वास्तविकता है और स्वाधीन मनुष्य एक प्रतीति एवं ज्ञान है। कोई भी व्यक्ति तब तक अच्छा नहीं हो सकता जब तक उसका सामाजिक ढांचा अच्छा न हो, जिसका वह नियमित अंग है। मार्क्स ने लिखा है, ''मनुष्य की चेतना अस्तित्व का निर्माण नहीं करती, अपितु इसके विपरीत मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारण करता है। जब कभी परिस्थितियां अदम्य नियमों के कारण अपने-आपको बदल लेती है तो व्यक्ति भी बदल जाते हैं, क्योंकि सामाजिक तत्व मानवीय व्यवहार का निर्माण करते हैं।''[1] ''समाज बहुसंख्य लोगों की एक जमात होती है जो किसी सांझे उद्देश्य को पूरा करने के लिए सांझी भावनाओं के साथ, सांझे तरीके के संलग्न रहने के कारण एकजुट होते हैं। सांझी जरुरतों और उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विचारों का लगातार आदान-प्रदान करना होता है। इसके साथ एकता और परस्पर सहानुभुति की भावना भी प्रगाढ़ होती है।''[2]

संसार में भारतीय संस्कृति और समाज बहुत ही पुरातन एवं विभिन्नताओं से भरपूर है, जिसने बहुत से पढ़ाव पार करते हुए वर्तमान स्थिति को प्राप्त किया है। समाज समय के प्रभावों और परिवर्तनों का सामना करते हुए यहां तक पहुँचा है। समाज में समय-समय पर विविधताओं, जटिलताओं, कभी संकीर्णता और कभी उदारता के चक्रों में से निकलकर संस्कृति का मार्ग बिना रुके आगे ही बढ़ता रहा है। भारत के ऋषि मुनियों, चिंतकों, विद्वानों और समाज सुधारकों द्वारा भी सामाजिक स्थापना में बड़ा योगदान रहा है जिसके कारण समाज चर्तुमुखी विकास और समृद्धि की राह पर आगे बढ़ता रहा है। समाज की उन्नति और विकास के लिए योजनाओं की रचना करना प्रथम आवश्यक कार्य होता है। इसी प्रकार से कोई भी संगठन, संस्था, ट्रस्ट आदि का निर्माण करना हो तो उसके भी कुछ आधार होते हैं जिससे संगठन की दिशा और उन्नति की राह सरल बनती है। समाज भी एक संगठन है अथवा लोगों का समूह है। इसके भी कुछ आधार हैं जैसे वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, जाति व्यवस्था और संयुक्त परिवार व्यवस्था आदि। वर्तमान में भारतीय समाज पश्चिमी सभ्यता और आधुनिकीकरण से बहुत प्रभावित है और बिना सोचे समझे अंधा-धुंध उसका अनुकरण करना सबको अच्छा लग रहा है। विवेक और सार्थकता को ध्यान में न रखते हुए अपनी संस्कृति को ठेस पहुंचा रहा है। परंतु फिर भी भारतीय समाज के कुछ परम्परागत आधार हैं जैसे संगठनात्मक आधार और दार्शनिक आधार।

दार्शनिक वह आधार हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिमार्जित करते हुए उसके अधिकारों, लक्ष्यों और कर्तव्यों के प्रति सचेत करते हैं जैसे धर्म, संस्कार, कर्म, पुनर्जन्म का सिद्धांत, ऋण और यज्ञ, पुरुषार्थ आदि। संगठनात्मक आधार से तात्पर्य है कि लक्ष्य पूर्ति के लिए समाज को ईकाईयों में बांटकर व्यक्तिगत योग्यता एवं कार्यक्षमता का पूरा-पूरा उपयोग किया जाता है। व्यक्ति को अपनी महारत का प्रदर्शन करने के लिए पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता है। संगठनात्मक आधार हैं जैसे वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था जिसमें ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम, जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, ग्राम पंचायत आदि। यह संगठन सब आयोजित होते हैं। जिसमें सुयोग्य व्यक्तियों का सामाजिक प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

भारतीय समाज की व्यवस्था के कुछ आधुनिक आधार भी हैं जैसे वर्ग व्यवस्था, नवीनीकरण, समानता और उदारता, धर्मनिर्पेक्षता, संस्कृतिकरण आदि।

1. *वर्ग व्यवस्था;* भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् नेताओं, समाज सुधारकों और संविधान द्वारा प्रदान अधिकारों से जाति व्यवस्था काफी ढीली व कमजोर पड़ गई और लोगों के व्यवहार में काफी हद तक सार्थक परिवर्तन हुआ है जिससे समाज में उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग का अस्तित्व बना है। वर्तमान में एक वर्ग में अपनी योग्यता और प्राप्तियों के बल पर बेझिझक प्रवेश कर सकते हैं बल्कि व्यक्ति में उस वर्ग के गुणों का समाहित होना आवश्यक है। अब व्यक्ति के स्तर का निर्धारण उसकी योग्यता, पद, अनुभव, आय, संपति के आधार पर होना लगा है ना की केवल जन्म-जाति पर।
2. *नवीनीकरण;* नवीनीकरण से भाव आधुनिकीकरण से है। आधुनिकीकरण सबके लिए है न की किसी विशेष जाति अथवा वर्ग के लिए। इसकी प्रक्रिया निरंतर है, जिसे एक समाज अपनी दुर्बलताओं और पिछड़ेपन को दूर करके पहले से अधिक विकसित होकर और उच्च समाज के गुणों को धारण करके उसमें प्रवेश कर सकता है। कई घटकों के कारण आधुनिकीकरण की गति तीव्र है क्योंकि ऐसा करना सबके लिए रुचिकर और सुविधदायक है।

3. *धर्मनिर्पेक्षता;* वर्तमान जागृति और आधुनिकीकरण के कारण धर्म के सभी हथकंडे, अंधविश्वास, धर्म एवं रुढ़ियों का भंडा-फोड़ हो चुका है। अब तो प्रत्येक क्रिया कर्म को करने से पहले उसे तर्क कि कसौटी पर परखा जाता है और विवेक से लाभ-हानि प्रतिभूति को निश्चित कर लिया जाता है। अतः अब तो नवीनीकरण के कारण उपभोक्ता तो कोर्ट की शरण लेने में भी अक्षम है। अब सब धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है। धर्मिक क्रियाओं और कटट्रता के अनुसरण की पोल खुल चुका है। धर्म वर्तमान में भेद-भाव व पक्षपात का आधार न होकर एक अच्छे भाईचारे की रचना में सहयोग कर रहा है।

4. समानता एवं स्वतंत्रता; समानता एवं स्वतंत्रता आज़ादी प्राप्त करने के बाद यह मौलिक अधिकार बन चुके हैं जिनका किसी भी प्रकार से हनन नहीं किया जा सकता। अब कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के साथ, जन्म, जाति, धर्म, लिंग, रंगभेद तथा किसी और अन्य आधार पर भेदभाव एवं दुर्व्यवहार नहीं कर सकता। कानून की दृष्टि में सब समान हैं। यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका इसका उचित प्रयोग करें तो विकास के लिए सबको समान अवसरों की उपलब्धता सुलभ हो सकती है।

5. *संस्कृतिकरण;* संस्कृतिकरण को परिभाषित करते हुए डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने लिखा है, ''संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या जनजाति अथवा कोई अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति रिवाज, कर्मकांड, जीवन पद्धति को बदलता है।''[3] संस्कृतिकरण में परिवर्तन शिक्षा के विस्तार और संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों एवं नैतिक कर्तव्यों के कारण संभव हो सका है। क्योंकि अब भारतीय समाज को हानिकारक घटकों की समझ आ गई है जो सदियों से भारत की उन्नति, एकता और शांति के मार्ग में रोड़ा अटकाए हुए थे। भारतीय लोगों के विदेशों में आवागमन के कारण के प्रभावों और समानता के व्यवहार से संस्कृतिकरण को अधिक बल मिला है और दिन प्रतिदिन निर्थक परम्परांओं, आधारों, कारणों और रुढ़ियों का निवारण हो रहा है।

आधुनिक समाज का वास्तविक दर्पण

जिस समाज में शिक्षक के स्तर का मूल्यांकन करना है अर्थात् बीसवीं एवं 21वी सदी के समाज का दृष्टिपात करना भी अनिवार्य लगता है ताकि मूल्यांकन में पक्षपात में संभावना न रहे क्योंकि शिक्षक इसी समाज का एक अभिन्न अंग है। बेचारा शिक्षक तो क्या बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, दार्शनिक और विद्वान समाज के प्रभाव से बच नहीं पाए हैं। शिक्षक चेतन तो है, लेकिन वह अपने कर्तव्य से कभी-कभी भटक कर किसी पार्टीबाजी का कारणवश शिकार हो जाता है तो समझो वह पथभ्रष्ट हो गया। जैसे प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं, किसी एक की उपेक्षा नहीं की जा सकती, सिक्के के दोनों पहलू होने से ही सिक्का अस्तित्व में है। इसी तरह समाज के भी दो पक्ष है, अच्छा और कुछ बुरा समाज। सारा समाज अच्छा भी नहीं और न ही सारा समाज बुरा है लेकिन समाज के कुछ एक लोग जो प्रकृति से ही नकारात्मक, चतुर एवं स्वार्थी सोच के होते हैं वह समाज के भले पुरुषों को धोखे से राजनीतिक सहायता द्वारा दिन-रात उल्लू बनाने की कोशिश में लगे रहते हैं। राज्यों में कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार के माफिया ग्रुप राजनैतिक सहायता से अधिक लाभ कमाने हेतु भिन्न-भिन्न गलत धंधें में संलिप्त हैं और सरकार के साथ भागीदारी के बल पर खूब विकसित हो रहे हैं।

आप यदि समाज में एन.जी.ओ. के फैले हुए जाल पर गहराई से विचार मंथन करें तो अपको कई हैरानी जनक तथ्यों का पता चलेगा कि ऐसी संस्थाएं सरकार को धोखे में रखकर भला करने की अपेक्षा लूट-पाट और शोषण का काम अधिक कर रही हैं यहां तक कानून भी इन्हें रोकने में असमर्थ हो जाता है। ''इन धर्मार्थ संस्थाओं के दुरुपयोग से युग के अधिक भ्रष्टाचारी दिमाग ने सभी प्रबंधों और नियमों का धड़ल्ले से उल्लंघन करते हुए गैर-सरकारी संस्थाओं का गठन किया और परोपकार के नाम पर सरकार से अधिक से अधिक अनुदान प्राप्त किया और लोगों से दान प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के हथकंडे अपनाए।''[4] समाज में धूर्त लोग झूठ को सच बनाने की कला में बड़े माहिर हैं और समाज में अपनी छवि अपने मान-सम्मान के लिए भले पुरुष की प्रस्तुत करते है। शोषण इतना करते हैं कि शोषित को इनता शक्तिहीन बना देते हैं और

वह डर के मारे कुछ बोल ही नहीं पाता। एक बाबा के आचरण को देखिए पहले उसकी तूती आसमान में बोलती थी। और जेल में बैठे-बैठे ही गवाहों की हत्या करवा रहे हैं। यह भारतीय समाज की कैसी बिडंबना है?

सरकार ने निजी कंपनियों को हिदायत दे रखी है कि ''वह अपने लाभ का 2 प्रतिशत भाग समाज के लोगों की भलाई के कार्यों पर खर्च करे।''[5] परंतु कंपनियां इसे बोझ एवं भार टैक्स समझती हैं। यदि ये कंपनियां 2 प्रतिशत धन देश के विकास में ईमानदारी से खर्च करें तो समाज से गरीबी एवं पिछड़ापन सदा के लिए दूर संभव हो सकता है। परंतु सरकार पर वह लोग भारी पड़ते है क्योंकि की चुनाव से पहले चंदे के रुप में मोटी रकम सरकार इनसे प्राप्त करती है इसलिए कानून इनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। कौन नहीं जानता कि बड़ी-बड़ी कंपनियों के स्वामी जो अरबपति व करोड़पति हैं टैक्स अदा करने में कितनी बड़ी-बड़ी हेराफेरी करते हैं। सरकार के टैक्स की चोरी सब लोग किसी न किसी गलत ढंग से मिलजुलकर करते हैं। सरकारी कर्मचारी टैक्स की चोरी करने में असमर्थ हैं। परंतु यह कितने बड़े दुखः की बात है कि वर्तमान में सरकारी कर्मचारी अपने देश की गुप्त सूचनाएं दूसरे देशों को प्रदान करने में संलिप्त पाए जाते हैं। यह तो रक्षक ही भक्षक बनने वाली बात हुई। समाज का ऐसा आचरण कितना शर्मिंदा करने वाला है।

समाज में समानता के व्यवहार की दशा भी अंदर से इतनी अच्छी नहीं है जितनी बाहर से दिखाई देती है। कुछ घटनाएं ऐसी है जो समानता के ढोंग का पर्दाफाश करती है। ''हैदाराबाद में 26 वर्षीय पी.एच.डी. छात्र रोहित से अन्य दबंग छात्रों ने मारपीट की। उसे कॉलेज और होस्टल से बाहर कर दिया गया, उसकी छात्रवृति अन्यायपूर्वक रोक दी गई और अधिकारियों ने उसे आत्महत्या करने के लिए मजबूर कर दिया गया। निर्धन माता-पिता के घर कर चिराग समानता के चक्र में गुल हो गया। दूसरी घटना तामिलनाडू के बिल्लमपुर की जिसमें तीन दलित छात्राओं ने कॉलेज की ज्यादतियों के कारण कुएं में छलांग लगा दी। इस हादसे के दो दिन बाद खबर मिली कि हिंदी कवि प्रकाश साब ने केन्द्रीय हिंदी संस्थान द्वारा जातिगत टिप्पणियों के कारण आत्म हत्या कर ली।''[6] ऐसा है भारतीय भाईचारे का समाजिक दर्पण। समाज में सैकड़ो नहीं बल्कि हजारों ऐसी घटनाएं गांवों के सामन्ती शासन में निर्धन और कामगार लोगों के साथ घटती रहती हैं। जिससे वास्तविकता से पर्दा उठता रहता है। ऐसे लगता है जैसे निर्धन अमीरों की अठखेलियों के लिए है। लेकिन सरकार को इन घटनाओं से कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि निर्धन तो निर्बल, असहाय और अल्प बुद्धि होते हैं। उनमें एकता और कर्म का अभाव रहता है, डर के कारण वह अपनी आवाज बुलंद करने में असमर्थ होते हैं। दिन-प्रतिदिन समाज में जुर्मों और अत्याचारों की संख्या बढ़ रही है। नारी की सुरक्षा कहीं भी सुनिश्चित नहीं है। विश्वासघात से रिश्ते तार-तार हो रहे है। जिस किसी पर भी विश्वास करो वह दूसरे पल ही ढोंगी साबित होता है। धनी वर्ग होटलों, क्लबों और भांति-भांति के अन्य मनोरंजन के साध्नों में ग्रस्त हैं। लूट-पाट जोरों पर है। नशे और तलाकों की वृति ने अच्छे-अच्छे घरों को उजाड़ दिया है। क्या ऐसे समाज को सभ्य समाज कहा जा सकता है? ''समाज अच्छे पहरावे से नहीं बल्कि अच्छे आचरण से अच्छा समाज बनता है।''[7] परंतु अच्छे समाज की स्थापना के लिए बहुत अच्छे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो कि दृढ़ शक्ति के स्वामी हों और सार्थक प्रयत्नों को क्रियान्वयन करने में अति श्रेष्ठ हों। समाज की बेहतरी के लिए कानूनी प्रक्रिया बनाने में भी देरी नहीं करनी चाहिए। सभी सच्चे सहयोग से कठिन से कठिन कार्य भी संभव हो सकता है। हमारा प्रथम कर्तव्य है कि सबसे पहले हम अपना सुधार करें, हमारी कथनी और करनी में अंतर नहीं होना चाहिए। विकसित देशों के समाज में जो अपने राष्ट्र के प्रति आदर की भावना है उसकी तुलना में हम भारतीय कहीं भी नहीं टिक पाते। जापानी तो अपने राष्ट्र की इज्जत अपनी लड़कियों की इज्जत से कहीं ज्यादा करते हैं। अब आप सोंचे की हमारी स्थिति कैसी है? हम तो अबल दर्जे के स्वार्थी और कामचोर हैं जिससे समाज में धीरे-धीरे बहुत विकृतियां पनप रही हैं। पता नहीं कि बड़े भाई को पैतृक संपति से छोटे भाई को समान हिस्सा देने में बहुत कष्ट क्यों होता है? समाज की ऐसी स्थिति में समाज को बड़े त्यागी और बलिदानी महापुरुषों के निर्देशन की आवश्यकता होती है। जिनमें से एक शिक्षक भी है जिसे आदर्श शिक्षक के रुप में कार्य करते हुए समाज सुधार का कार्य भी छात्रों के माध्यम से गौण अथवा मुख्य रुप से अध्यापन द्वारा करना होगा। शिक्षक समाज और छात्रों के बीच एक धुरा है जिसके इर्द-गिर्द समाजिक प्रक्रिया घूमने पर आकार ग्रहण करती है। उपरोक्त परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए समाजिक संरचना में प्रत्येक स्तर पर सुधार की अधिक आवश्यकता है।

निष्कर्ष

समाजिक संरचना एक जटिल प्रक्रिया बन गई है, समाज में वर्ण व्यवस्था का लक्ष्य तो चर्तुमुखी विकास करना था परंतु समय के प्रभाव से यही वर्ण व्यवस्था समाज के लिए विष के समान कार्य कर रही है। अर्थात् समाज का समय, धन और ध्यान इसकी समस्याओं पर केन्द्रित होकर इनके समाधान में व्यस्त रहता है। इस से समाज में वैमनस्य और जातिगत भेदभाव की नीति का जागरण हो रहा है। संविधनिक नीतियों का उल्लंघन हो रहा है और अदालतों के फैसलों की पहचान सरकार कम ही करती है। समाज की वास्तविकता की दर्पण समाज के अति संम्पन लोगों द्वारा ही धुंधला किया जाता है। समानता और न्याय प्रदान करने में कानून कम ही कारगर साबित हो रहा है। जिस राज्य में नारी सुरक्षित नहीं वह राज्य विकास की किस बात पर गर्व करने योग्य है। अर्थात प्रत्येक स्तर पर अपने आचरण में सात्विकता लाने की आवश्यकता है। हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और की नीतियों का सरकारों को त्याग करना होगा और राष्ट्र के प्रत्येक मानव को पहल के आधर अपने आचरण में पवित्रता और शुद्धता लानी होगी।

संदर्भ सूची

[1]*कार्लमार्क्स*

[2]जान डेवी -(अनुवादक) सुशील कपूर, आकार बुक्स मयूर बिहार फेस-1 दिल्ली, पुनर्मुद्रण 2015, पृष्ठ संख्या 12

[3]हिरेन्द्र प्रताप सिंह एवं नवीन कुमार -*भारत में समाज संरचना एवं परिवर्तन,* अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा (प्र0 संस्करण 2013-14) पृष्ठ संख्या 129

[4]*विमल विधावन एडवोकेट सुप्रीम कोर्ट लेखः कानून नहीं रोक सका दान का दुरुपयोग समाचार पत्र,* जगबाणी पंजाबी संस्करण

[5]*शांता कुमार लोकसभा सदस्य समाचार पत्र,* अमर उजाला परिदृश्य

[6]सुभाषिनी सहगल -*अली समानता की तलाश करता गणतंत्र,* समाचार पत्र; अमर उजाला दिनांक 29.01.2016

[7]*स्वामी विवेकानंद*

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,26-30
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 17 अप्रैल 2016

शरणदाता : सृजन एवं सर्जक

सव्यसाची मिश्र*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *शरणदाता : सृजन एवं सर्जक* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *सव्यसाची मिश्र* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

अज्ञेय की गणना प्रयोगवादी कवि के रूप में होती है, परन्तु उनका गद्य साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अज्ञेय ने गद्य साहित्य की अधिकतर विधाओं में अपना योगदान दिया। हिन्दी की नयी कहानी में अज्ञेय का एक विशिष्ट नाम है। सच्चिदानन्द 'वात्स्यायन' को उनका नाम 'अज्ञेय' भी उनकी कहानी संग्रह 'विपथगा' की वजह से ही मिला था। अज्ञेय ने अपने विशिष्ट प्रयोगों से हिन्दी कहानी की मूलभूत संरचना में बदलाव लाने का प्रयत्न किया। कृष्णदत्त पालीवाल के शब्दों में ''अज्ञेय ने कहानी के रचना संगठन में इतना बुनियादी बदलाव ला दिया है कि इस विधा की संरचना सदैव के लिए बुनियादी परिवर्तन का वरण करती दिखाई दी हैं।[1]

अज्ञेय के मनोविश्लेषक रूप का प्रभाव उनकी कहानियों में स्पष्ट दिखता है, उनकी कहानियाँ आंतरिक मनोभावों, अन्तर्द्वन्द्व, पारिस्थितिक परिवर्तनों के आधार पर विकसित होती है, घटना को कथा का रूप देती हैं, शक्ति प्रदान करती है।

अज्ञेय कहानी को 'एक दौड़ती लहर का गतिचित्र' मानते हैं। कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार ''मानसिक सूक्ष्मवृत्तांत की एकाग्रता और भाव-विचार मीमांसा के आग्रह के कारण कहानी 'एक क्षण का चित्र' अपनी बहुस्तरीय यथार्थ चेतना के साथ साधन संश्लिष्ट रूपाकार में प्रस्तुत करते हैं।''[2] अज्ञेय अपनी कवि दृष्टि के कारण ही यथार्थ को अपनी कहानियों में संश्लिष्ट करते हैं। अज्ञेय का खोजी मन कहानी को एक नयी राह प्रदान करता है और नये युग की मानसिकता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता हैं। अज्ञेय की पहली कहानी 'जिज्ञासा 1929' में लिखी गयी और 1935 में प्रकाशित हुयी। अज्ञेय की अन्तिम कहानी है, 'हजामत का साबुन' जिसका रचनाकाल 1959 है। उन्होंने इन तीस वर्षों के दौरान 67 कहानियाँ लिखी। इन कहानियों को आलोचकों ने उनकी भावनाओं के अनुसार अलग-अलग श्रेणियों में बाँटा है। डॉ0 देवराज ने 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' पुस्तक में अज्ञेय की कहानियों को तीन श्रेणियों में बाँटा है- (1) क्रान्तिकारी जीवन से सम्बन्धित, (2) ओम से सम्बन्धित, (3) मनोवैज्ञानिक।

* शिक्षार्थी, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

रामस्वरूप चतुर्वेदी अज्ञेय की कहानियों को विषयवस्तु के आधार पर 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या पुस्तक में तीन प्रकार का मानते हैं- 1. वे, जो क्रान्ति के चित्र प्रस्तुत करती हैं। 2. कुछ वे, जो युद्ध जीवन से सम्बन्धित हैं। 3. वे, जो विभाजनों- प्रांत शरणार्थी समस्या को लेकर लिखी हुयी है।

अज्ञेय स्वयं अपनी कहानियों को 4 खेपों में प्रस्तुत करते हैं। पहली खेप की कहानियाँ सितम्बर 1931 से फरवरी 1934 के मध्य विभिन्न जेलों में लिखी गयी हैं। इन कहानियों का विषय 'क्रान्तिकारियों की मनोस्थिति और संवेदनाएँ हैं। स्वयं अज्ञेय के अनुसार ''पहली खेप की कहानियाँ क्रान्तिकारी जीवन की हैं, क्रान्ति समर्थन की है और क्रान्तिकारियों की मनोरचना और कर्मप्रेरणाओं के बारे में उभरती शंकाओं की है।''[3] अज्ञेय की प्रथम खेप की कहानियों में, विपथगा, मिलन, अंकलक, द्रोही, छाया, एक घंटे, विवेक से बढ़कर, क्षमा, अंगोरा के पथ पर, पड़ोग वृक्ष, पुलिस की सीटी, आदि कहानियाँ आती है। 1934 से 1940 के आसपास लिखी गयी कहानियों को अज्ञेय की दूसरी खेप की कहानियाँ कहा जा सकता है। इनमें से अधिकतर कहानियाँ नजरबन्दी की स्थिति में लिखी गयी हैं। इन कहानियों में अज्ञेय समाज और संस्कृति का खुला दर्शन दिखाते हैं। अज्ञेय के अनुसार ''दूसरे खेप की कहानियों में एक पुराने गुप्तकर्मी आतंकवादी का खुले समाज में एक 'जाने हुए' व्यक्ति के रूप में जीने, समाज से मिलने वाले सम्मान के बीच उस समाज के और उस सम्मान के खोखलेपन के बोध की अभिव्यक्ति हुई है।''[4] इस खेप की कहानियों में मनसो, रोज (गैंग्रीन), पहाड़ी जीवन, अखिलित कहानी, दुःख और तितलियाँ, हरसिंगार, शान्त हँसी थी आदि कहानियाँ आती हैं। अज्ञेय ने दूसरी खेप की कहानियाँ लिखने के बाद 6-7 वर्षों का अन्तराल लिया था। 1943 में अज्ञेय सेना में शामिल हो गये थे और 1946 में उन्होंने सेना की नौकरी छोड़ दी। अज्ञेय की तीसरी खेप की कहानियाँ सैनिक जीवन के विविध अनुभवों से जुड़ी हैं। अज्ञेय के अनुसार ये कहानियाँ ''सैनिक जीवन से और उन प्रदेशों के जीवन, समाज अथवा इतिहास से सम्बद्ध हैं।''[5] इस खेप की कहानियों में एक नयापन है। अज्ञेय सैनिक रूप में जिन-जिन प्रदेशों में रहे, उन प्रदेशों की संस्कृति, समाज, इतिहास इन कहानियों में प्रदर्शित हुआ है। इस खेप की कहानियों में 'मेजर चौधरी की वापसी', 'हीली-बोन की बत्तखें', 'जयदोल', 'नीली हँसी' और 'पठार का धीरज' कहानियों का नाम आता है।

1947 में विभाजन के बाद देश में राजनीतिक भूचाल आ गया था। समाज के अराजकतत्त्वों को समाज में अराजकता फैलाने का एक सुनहरा अवसर मिल गया था। 1947 के आस-पास अज्ञेय पूर्वांचल के क्षेत्रों में विचरण कर रहे थे। इसी दौरान उन्होंने 'लेटर-बाक्स' 'शरणदाता', 'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई', 'रमन्ते तत्र देवता' और 'बदला' कहानियाँ लिखीं। ये कहानियाँ अज्ञेय की चौथे खेप की कहानियाँ कहलायी। इस चौथे खेप की कहानियों में एक और नाम 'नागरियाँ' कहानी का आता है, जो 1957 में लिखी गई थी।

अज्ञेय के अनुसार ये कहानियाँ ''भारत विभाजन के विभ्राट और उससे जुड़ी मनःस्थितियों तथा आहत मानवीय संवेदना और मानव मूल्यों के आग्रह की कहानियाँ हैं।''[6]

प्रथम की पाँच कहानियाँ 1948 में 'शरणार्थी' नामक कहानी संग्रह में प्रकाशित हुयी थी। 'शरणार्थी' की कहानियाँ अज्ञेय के कविमन की ही उपज है। उन्होंने 1947-1948 के मध्य 'शरणार्थी' शीर्षक से 11 कविताएँ लिखी जो तत्कालीन राजनीति पर कटाक्ष करती है तथा 'शरणार्थी' कहानी संग्रह को आधार प्रदान करती हैं, ''वैर की परनालियों से हँस-हँस के/ हमने सींची जो राजनीति की रेती/ उस में आज बह रही खूं की नदियाँ हैं। कल ही जिस में 'खाक-मिट्टी' कह के हमने थूका था/ घृणा की आज उसमें पक गयी खेती/ फस्ल काटने को अगली सदियाँ हैं।''[7]

अज्ञेय ने अपनी चौथी खेप की कहानियों को अपने सैनिक जीवन के अनुभवों से सींचा है। यह उनकी कहानियों की इकलौती खेप थी, जिसके जमीनी धरातल को उन्होंने अपने चक्षुओं से नहीं देखा था अपितु इलाहाबाद के आस-पास आने वाले शरणार्थियों से सुना था या समाचार पत्रों के द्वारा परिस्थितियों को जानकर वे इस संवेदना के अंग बन गये थे। कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार ''विभाजन से उत्पन्न समस्याओं की प्रश्नाकुलताओं से यहाँ अज्ञेय जूझ रहे हैं।''[8]

'शरणार्थी' कहानी संग्रह की बात आती है तब 'शरणदाता' कहानी का नाम मुखरित होता है। मनुष्यता के पवित्र भाव का आदर्श स्थापित करती इस कहानी में विभाजन के परिवेश का गहन संवेदनात्मक चित्रण और ज्ञानात्मक संवेदना का अद्भुत मिश्रण है। इस कहानी में विभाजन की विभीषिका में हिन्दू-मुसलमान घृणा तथा मारकाट के साथ करूणा की सरिता भी बह रही है।

'शरणदाता' कहानी का प्रारम्भ विभाजन के पश्चात् 'लाहौर' शहर में मची मारकाट से घबराये देविन्दरलाल और उनके मित्र रफीकुद्दीन के वार्तालाप से होता है। 'लाहौर' में फैली अराजकता के बावजूद रफीकुद्दीन, देविन्दरलाल को लाहौर से पलायन से रोक लेते है और उन्हें अपने घर में शरण देते हैं, किन्तु जब दंगाइयों का उत्पात बढ़ने पर रफीकुद्दीन, देविन्दरलाल को अपने मित्र और पुलिस विभाग के कर्मचारी 'शेख अताउल्लाह' के गैराज में शरण दिलाते हैं। गैराज में देविन्दरलाल आजाद देश में कैद होने की भावना को महसूस करते हैं। कुछ समयोपरान्त शेख साहब देविन्दरलाल के खाने में विष मिलाकर भेजते हैं परन्तु उनकी पुत्री जैबुन्निसा एक पुड़िया में संदेश पहुँचाती है कि खाना कुत्ते को खिलाकर खाइयेगा। देविन्दरलाल खाना बिल्ले को खिला देते हैं, जिससे बिल्ले की मृत्यु हो जाती है। वे पलायन कर जाते हैं और दिल्ली पहुँच जाते हैं वहाँ उन्है जैबुन्निसा का पत्र मिलता है।

'शरणदाता' कहानी का आरम्भ हतप्रभ की स्थिति से होता है क्योंकि जिस समय देश आजादी का जश्न मना रहा था उसी समय लाहौर का यह हिस्सा बँटवारे की त्रासदी को झेल रहा था। अज्ञेय यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं कि कल तक जिन लोगों के साथ हमारा रोज का मिलना था, वे ही आज शत्रु बनकर बैठे हैं। वे देविन्दरलाल द्वारा कहते हैं, ''हर कोई हर किसी को शुबहे की नजर से देखता है, और खाहमखाह दुश्मन हो जाता है।''[9] वे दिखाते हैं कि प्रारम्भिक दंगों के बाद शहर तो शान्त हो गया परन्तु इस अराजकता के पश्चात नागरिकों के मन में जो विष व्याप्त हो गया उसे दूर नहीं किया जा सकता। वे दिखाते हैं कि एक हिन्दू डॉक्टर की हत्या वह शख्स कर देता है, जिसके रिश्तेदार का इलाज करने एक हिन्दू डाक्टर आया था।

वे कहते हैं कि इस स्थिति को बदतर बनाने में प्रशासन का बहुत बड़ा हाँथ है, जो लोग आश्रितों को आश्रय देते हैं, पुलिस आकर उन्हें ही दण्ड देती है, ऐसा दण्ड जो किसी भी शरणदाता को नहीं मिलना चाहिए। यहाँ वे अपना रोष प्रकट करते हुए कहते हैं ''विषाक्त वातावरण, द्वेष और घृणा की चाबुक से तड़फड़ाते हुए हिंसा के घोड़े, विष फैलाने वाले सम्प्रदायों के अपने संगठन और उसे भड़काने वाले पुलिस नौकरशाही।''[10] अज्ञेय यहाँ एक सिख गाँव का उदाहरण देते हुए लाहौर के अराजकतत्वों पर कटाक्ष करते वे कहते हैं कि उस सिख गाँव के लोगों ने कई सौ मुसलमान परिवारों को शरण दी और संकट आने पर जोखिम उठा कर सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया, लेकिन उसी समुदाय के लोगों ने शरणागतों के साथ विश्वासघात किया।

अज्ञेय के अनुसार यह स्थिति सिर्फ एक सम्प्रदाय के विशाक्त विचारों और उसे बढ़ावा देने वाले प्रशासन की वजह से आयी है, जिससे रफीकुधीन और देविन्दरलाल मजबूरी और लाचारी से हतप्रभ होकर देख रहे हैं।

अज्ञेय एक सफल मनोविश्लेषक रहे हैं, वे मनुष्य के परिस्थितियों के अनुसार बदलने की आदत को दिखाते हुए देविन्दरलाल द्वारा कहते हैं ''आखिर तो लाचारी होती है- अकेले इन्सान को झुकना ही पड़ता है।''[11] अज्ञेय साबित करते हैं कि अक्सर मनुष्य किसी भय से या समाज के दबाव में आकर वह कार्य कर जाता है या उसे करना पड़ता है जो वह सामान्य स्थिति में नहीं करता। अज्ञेय 'शरणदाता' कहानी में समाज के एक कुंठित वर्ग द्वारा एक शरीफ मनुष्य को उसी कुंठित वर्ग में शामिल होने के लिए किस प्रकार मजबूर किया जाता है। कुंठित वर्ग के लोग किसी मनुष्य को किसी भी तरह कुंठित बनाना चाहते हैं, चाहे इसके लिए उन्हें धर्म आदि की बात भी करनी पड़े।

अज्ञेय ने जैसा कि पहले ही कहा है ''अकेले इंसान को झुकना ही पड़ता है,''[11] अतः रफीकुधीन, देविन्दरलाल को अपने एक मित्र शेख अताउल्लाह के यहाँ शरण दिलाते हैं। देविन्दरलाल को शेख अताउल्लाह के एक छोटे से गैरेज में शरण मिलती है, परन्तु गैरेज का माहौल देखकर वे दंग रह जाते हैं। अज्ञेय यहाँ देविन्दरलाल की स्थिति को दर्शाते हुए आजादी के उद्देश्य पर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि ''यह है आजादी! पहले विदेशी सरकार लोगों को कैद करती थी, वे आजादी के लिए लड़ना चाहते थे; अब अपने ही भाई अपनों को तन्हाई कैद दे रहे हैं क्योंकि वे आजादी के लिए ही लड़ाई रोकना चाहते है।''[12]

मनुष्य एक वस्तुभोगी प्राणी है वह अपने लिए सुविधाएँ चाहता है, परन्तु देविन्दरलाल अपनी स्थिति देखकर यही सोच सकते थे कि यह सरकारी कैद से भी बदतर है क्योंकि ''सरकारी कैद में तो गा-चिल्ला सकते थे, यहाँ तो चुप रहना होगा।''[13]

अज्ञेय की गिनती रोमांटिक कथाकारों में होती है, अज्ञेय की कहानियों में साधारणतः रोमांस की झलक दिखती है। यद्यपि शरणदाता उनकी अन्य कहानियों से भिन्न है परन्तु यहाँ भी वे अपनी रोमांटिक शैली की झलक दिखाते हैं, ''जैबू की आवाज

से देविन्दरलाल को लगाव था। घर की युवती लड़की की आवाज थी, इस स्वाभाविक आकर्षण से ही नहीं, वह विनीत भी थी, इसलिए।''[14]

जब पूरी मशीनरी एक ही विचारधारा में चल रही हो तब कुछ अछूते लोगों का उस विचारधारा से अलग रह पाना अत्यन्त मुश्किल होता है, इसीलिए जैबुन्निसा के बारे में देविन्दरलाल सोचते हैं ''क्या यह आवाज भी फिरकापरस्ती का जहर भरती होगी।''[15] विभाजन के बाद अराजकता फैलाने में पुलिस मशीनरी का बहुत बड़ा हाथ था और शेख अताउल्लाह पुलिस विभाग में हेड क्लर्क थे। देविन्दरलाल को रफीकुद्दीन ने शायद इसीलिए शेख अताउल्लाह के घर रखा था क्योंकि यह मान्यता होती है कि रक्षकों का ठिकाना सबसे सुरक्षित होता है, अज्ञेय यहाँ व्यंग्यात्मक शैली में कहते हैं ''पुलिसियों का घर तो सुरक्षित होता है; वह बात ठीक भी है, लेकिन सुरक्षित होता है, इसलिए शायद बहुत से उपद्रवों को जड़ भी होता है।[16] अज्ञेय पाश्चात्य शैली के माहिर खिलाड़ी रहे हैं, इसलिए 'शरणदाता' को भी वे पाश्चात्य मानकों के आधार पर चरमसीमा पर ले जाते हैं, जहाँ नाटकीय परिवर्तन होते हैं।

जैसा कि पहले कहा है अगर पूरी मशीनरी कुण्ठित हो तो मशीनरी के कुछ लोगों का कुण्ठा से बच पाना कठिन हो जाता है यही अज्ञेय ने दर्शित किया है।

शेख साहब भी साम्प्रदायिक कुण्ठा से बच नहीं पाते और देविन्दरलाल के खाने में जहर मिलाकर भेज देते हैं। अज्ञेय यहाँ जैबू के हाथों खाने में जहर होना का संदेश देविन्दरलाल के पास पहुँचा कर एक आदर्श की स्थापना करते हैं कि जरूरी नहीं कि मशीनरी से जुड़े सभी लोग उसी कुण्ठित विचारधारा से ग्रस्त हों, कुछ लोग अच्छे भी होते हैं।

मनुष्य स्वार्थी प्राणी होता है उसके लिए अपने जीवन की रक्षा सबसे महत्वपूर्ण होती है, अज्ञेय मनुष्य की इसी मनोभावना को प्रदर्शित करते हैं। देविन्दरलाल अपना खाना बिलार को खिलाते है और कहते हैं ''देखो बेटा, तुम मेरे मेहमान हो, मैं शेख का, है न? वे मेरे साथ जो करना चाहते हैं, वहीं मैं तुम्हारे साथ करना चाहता हूँ। चाहता नहीं हूँ, पर करने जा रहा हूँ। वे भी चाहते हैं कि नहीं, पता नहीं, यही तो जानना है।''[17] और वे अपने खाना बिलार को खिला देते हैं। बिलार मर जाता है और देविन्दरलाल स्तब्ध रह जाते हैं, शेख साहब के गैराज से पलायन कर जाते है। अज्ञेय 'शरणदाता' कहानी में चार तरह के शरणदाता प्रस्तुत करते हैं, पहला रफीकुद्दीन जो कि देविन्दरलाल का मित्र था, परन्तु दुर्बल था और इसी दुर्बलता के कारण अपने घर से देविन्दरलाल को निकाल दिया। दूसरे शरणदाता शेख अताउल्लाह थे जो कि कुण्ठित मशीनरी के अकुण्ठित हिस्से थे, जिन्हें धीरे-धीरे कुण्ठा ने ग्रसित कर लिया। तीसरी और सही मायने में शरणदाता जैबुन्निसा साबित हुयी जिसने अपने परिवार के खिलाफ जाकर शरणागत देविन्दरलाल की रक्षा की। चौथे शरणदाता देविन्दरलाल हैं, जिन्होंने बिलार को शरण दी थी। देविन्दरलाल और शेख अताउल्लाह में इतना ही अन्तर है कि शेख साहब ने साम्प्रदायिक कुण्ठित सोच में अपने 'शरणागत' को विष दिया और देविन्दरलाल ने प्राण रक्षा में। यही देविन्दरलाल और उस वर्ग में अन्तर है।

जैबुन्निसा के तौर पर अज्ञेय ने एक सशक्त स्त्री पात्र का चरित्र प्रस्तुत किया है। उसमें सही को सही मानने का साहस और सत्य पक्ष की रक्षा का पथ निकालने का विवेक भी है। जैबुन्निसा एक करप्ट मशीनरी में कार्यरत एक मुस्लिम शेख अता-उल्लाह की पुत्री है। मुस्लिम समुदायों में स्त्रियों के ऊपर अत्यधिक पाबन्दियाँ होती हैं, इसके बावजूद जैबुन्निसा, देविन्दरलाल को 'पुड़िया' के द्वारा खाने में विष होने का सन्देश भेजती है और एक सी के सम्प्रदायग्रस्त हिंसक घेरेबन्दी के बीच इंसानियत की डगर पर चलकर अपने लोगों द्वारा की गई (अकारण) खूनी साजिश को विफल करके एक स्त्री की संवेदनशील मन की अमिट छाप छोड़ देती है, जिससे पाठक जैबुन्निसा से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता।

अज्ञेय का व्यक्तित्व भाषा में खुलकर सामने आता है। छोटे-छोटे वाक्यों में लाहौर के वातावरण, पात्रों की मनः स्थिति एवं वैचारिक धरातल का खाका खींच देते हैं। उनकी शैली कहीं सूत्रात्मक है तो कहीं भावात्मक। उसमें कहीं भी बनावटीपन, नहीं उसमें वैविध्य है।

अज्ञेय शरणदाता कहानी में दिखाते है कि मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार अपने में कैसे-कैसे बदलाव लाता है। मित्र-मित्र तब तक ही रहता है जब तक उसे मित्र की उपस्थिति से खतरा न हो, कर्तव्य का बोध तब तक ही रहता है जबतक कुण्ठा मन में न व्याप्त हो अगर भले मानुषों में एकजुटता होती, उनमें साहस होता अगर वे स्वार्थी नहीं होते तो शायद परिस्थितियाँ इतनी भयावह नहीं होती। अच्छे मनुष्यों का एक-जुट न होना, उनका स्वार्थी होना ही अच्छाई की सबसे बड़ी कमजोरी होती

है। इसी कमजोरी की वजह से रफीकुद्दीन ने देविन्दरलाल को घर से निकाला और इसी वजह से देविन्दरलाल के खाने में विष मिलाया गया। अज्ञेय मनुष्य की इस धारणा पर कटाक्ष करते हुए कहते है ''दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं अच्छाई की दुर्बलता के कारण है। भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है''[18] अज्ञेय यहाँ समाज को नवजागरण का सन्देश देते हैं, जिससे एक आदर्श समाज का निर्माण हो सके। आज भी सही आदमी न संगठित है न मजबूत है, उसके सामाजिक सरोकार स्वार्थ की रेखा पार करने में ठहर जाते हैं, उनका विद्रोह सिर्फ वाचिक ही होता है, वो भी निजी हानि से सशंकित और लोभ से शासित, इसलिए उनमें अवसरवादिता आ जाती है। यह समाज का कटु यथार्थ है, जिस ओर अज्ञेय उसी समय इंगित कर चुके थे, अज्ञेय शरणदाता में देविन्दरलाल के पलायन तक की कथामोड़ को घटना मानते है इसकी पुष्टि वे स्वयं करते हैं ''इसके बाद की घटना घटना नहीं है घटनाएँ सब अधूरी होती हैं पूरी तो कहानी होती है''।[19] अज्ञेय सम्भवतः शरणदाता में रफीकुद्दीन के पलायन के बाद का खण्ड इसे पूर्णता प्रदान करने के लिए दिया होगा, वे स्वयं कहते हैं ''कहानी की संगति माननीय तर्क या विवेक या कला या सौन्दर्य बोध की बनायी हुई संगति है, इसलिए मानव को दीख जाती है और वह पूर्णता का आनन्द पा लेता है। घटना की संगति मानव पर किसी शक्ति की- कह लीजिए काल या प्रकृति या संयोग या दैव या भगवान की बनाई हुई संगति हैं इसलिए मानव को सहसा नहीं भी दीखती।''[20]

अज्ञेय ने शरणदाता कहानी में निर्मम यथार्थ का चित्रण किया है, यह निर्ममता चाहे पारिस्थितिजन्य हो अथवा किसी अन्य कारण से, परन्तु अज्ञेय ने इस कहानी में जैबुन्निसा का पात्र प्रस्तुत कर आदर्श की स्थापना की है। जैबुन्निसा का पात्र 'शाबार उपर मानुष सत्य' की भावना को स्थापित करता है। यह आदर्श भाव खोखला नहीं है- ठोस है।

संदर्भ

[1]अज्ञेय -कृष्णदत्त पालीवाल, प्रकाशन विभाग, 2012 संस्करण, पृष्ठ संख्या 165

[2]अज्ञेय -कृष्णदत्त पालीवाल, प्रकाशन विभाग, 2012 संस्करण, पृष्ठ संख्या 165

[3]*अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ,* भाग-2 (लौटती पगडंडियाँ), राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ संख्या 07

[4]*अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ,* भाग-2 (लौटती पगडंडियाँ), राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ संख्या 08

[5]*अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ,* भाग-2 (लौटती पगडंडियाँ), राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ संख्या 09

[6]*अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ,* भाग-2 (लौटती पगडंडियाँ), राजपाल एण्ड सन्स, पृष्ठ संख्या 10

[7]*शरणार्थी-2 : पक गयी खेती अज्ञेय,* सदानीरा, भाग-1, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या 223

[8]अज्ञेय -कृष्णदत्त पालीवाल, प्रकाशन विभाग, 2012 संस्करण, पृष्ठ संख्या 180

[9]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 61

[10]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 63

[11]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 63

[12]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 65

[13]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 65

[14]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 66

[15]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 67

[16]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 67

[17]शरणदाता -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 68

[18]शरणदाता -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 69

[19]शरणदाता -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 69

[20]*शरणदाता* -अज्ञेय, हिन्दी कहानियाँ, संजय बुक सेन्टर, 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या 61

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,31-35
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 09 अप्रैल 2016

भारतेन्दुयुगीन रीति परिपाटी के कवि और उनकी कविताएँ

डॉ. सच्चिदानन्द द्विवेदी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *भारतेन्दुयुगीन रीति परिपाटी के कवि और उनकी कविताएँ* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *सच्चिदानन्द द्विवेदी* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

किसी भी युग का आगमन और उसमें परिवर्तन अनायस ही नहीं होता, बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों में होने वाले सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक, धार्मिक, परिवर्तन से हम तद्युगीन परिवर्तन का आँकलन करते हैं। रीतिकालीन काव्य परम्परा का आगमन भी तत्कालीन परिस्थितियों की ही देन है क्योंकि भक्ति कालीन काव्य रीतिकालीन काव्य से अधिक समृद्ध था, परन्तु परिस्थितिवश रीति परम्परा का आगमन हुआ। परिस्थितियाँ चाहे जिस प्रकार की हों मनुष्य मात्र में वीर, भक्ति श्रृंगार आदि की भावनाएँ हर समय विद्यमान रहती है और हर विधा की रचनाएँ प्रत्येक काल में होती रहती है जहाँ प्राचीन परिस्थितियाँ अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहती है, तो वर्तमान उसमें परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील रहता है और तत्कालीन परिस्थितियाँ उस साहित्यिक विधा के उत्कर्ष में सहायक बनती है किन्तु प्राचीन काव्यधारा का प्रभाव कुछ समय तक अवश्य बना रहता है भारतेन्दु युगीन काव्य में रीतिकालीन परिपाटी का होना इन्हीं स्थितियों का परिणाम है।

आधुनिक काल के प्रारंभ में संसार के देशों में परिवर्तन आ रहा था। यूरोप के देशों में विशेषकर इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जो प्रगति हुई उसने मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया। भारत में अंग्रेजी शासन के प्रारंभ होने के साथ ही एक ओर जहाँ जनता का शोषण प्रारंभ हुआ, वहीं वैज्ञानिक साधनों एवं यातायात की व्यवस्था से जनता में जागृति भी आई। उस युग के लेखकों ने जन-जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। समाज सुधारक नेताओं द्वारा सामाजिक, धार्मिक, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से ग्रसित समाज में परिवर्तन लाने के लिए आंदोलन शुरू किया गया। अंग्रेजों ने देशी राज्यों को हराया। जब राजाओं की व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं रह गयी। कवियों का राज्याश्रय समाप्त होने लगा। तब कवि जनता के संपर्क में आए। रीतिकालीन दरबारी कविता का रूप बदलने लगा। पहले जहाँ आश्रयदाताओं, की व्यक्तिगत इच्छा अनिच्छा के अनुसार कविताएँ की जाती थी, वहाँ अब सामाजिक जरूरतों को स्थान दिया जाने लगा। हिंदी साहित्य में परिवर्तन के इस दौर को प्रारम्भ करने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चंद्र को है। यद्यपि भारतेन्दु परंपरागत धारा से प्रभावित अवश्य थे, किन्तु नवयुग की

* [पोस्ट डॉक्टोरल फेलोशिप] हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

चेतना भी उनमें मुखरित होती गई। भारतेन्दु से पूर्व काव्य में प्रकृति का चित्रण, आलम्बन, उद्दीपन तथा उपदेशात्मक रूप में होता था। जब प्रकृति चित्रण सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाने लगा। नवीन युग की चेतना के कारण काव्य नायक-नायिका के प्रेम सीमा से मुक्त होकर जीवन के विशाल क्षेत्र को प्रभावित करने लगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु युग के कुछ कवि रीति परिपाटी के साथ आधुनिक विचारधारा को भी ग्रहण कर रहे थे और इनके काव्य में प्राचीन और नवीन दोनों काव्य रचनाओं का समावेश था ऐसे कवि निम्नलिखित है। सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु जब होली का वर्णन करते हैं, उस समय वे भारत की दयनीय दशा को नहीं भूलते।

''भारत में मची है होरी/ धूर उड़त सोई अबीर उड़ावत सबको नैन भोरी/ दीन दशा असुअन पिचकारी सब लिलार भिजयोरी।।''

भारतेन्दु के नाटकों में पायी जाने वाली कविताओं में तत्कालीन जीवन-बोध अधिक मुखर है। भक्तिपरक कविताओं पर कबीर, सूर, मीराबाई की छाप है तो श्रृंगारिक कविताओं पर धन आनंद, पद्माकर और द्विजदेव की रोमानियत। भारतेन्दु की भाषा अधिक सरस, सहज और ब्रजभाषा की बहुत-सी रूढ़ियों से मुक्त है। भक्ति के एक पद और एक श्रृंगारिक सवैये का उदाहरण देखिए, ''ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै। गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामें सिर भीजै।। सिसुताई अजो न गई तन में तऊ जोबन जोति बटौरे लगी। सुनि के चरचा हरिचन्द्र की कान कहू न दै, भौंह मरोरै लगी।। बचि सासु जेठानिनि सौं पियतें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी। दुलही उलही सब अंगन तें, दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी।।''

शुक्लजी कहना है- ''नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नील देवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आयी हुई कविताओं में देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है वह तो है ही। बहुत-सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरवगाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जागी हुई, चिन्ता आदि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।'' नवजागरण की चेतना से संपन्न कविताओं में प्रायः सर्वत्र देशभक्ति और राजभक्ति का अन्तर्विरोध पाया जाता है। 1857 के स्वतंत्रता-संग्राम को जिस निर्ममता से कुचला गया था उसके आतंक की छाया में यह अन्तर्विरोध भी एक साहसपूर्ण कदम है। 'विजयवल्लरी' काबुल-विजय के उपलक्ष्य में लिखी गयी हर्षोल्लास की कविता है। भारतेन्दु लिखते हैं कि सब लोग प्रमुदित तो हैं लेकिन सोचनेवाली भाषा है, ''कहा भूमिकर उठि गयौ कै टिक्कस भो माफ। जन साधारण को भयो किधौं सिविल पथ साफ।।''

वे और भी प्रश्न पूछते हैं कि क्या समाचार-पत्र कारायुक्त हो गये? उन्हें लिबरल दल से सुधार की आशा है? मिश्र विजय को देखकर आर्यों की मूँछें अपने-आप ऊपर उठ गई। इसके साथ ही विगत की वीर-परंपरा का स्मरण और वर्तमान की दुर्दशा का दृश्य। वे सिकंदर के युद्ध का वर्णन करते हुए भारतीय गौरव की याद दिलाते हैं।

मिर्जा गालिब की तरह भारतेन्दु भी अपनी कविता के बारे में लिखते हैं, ''रसा' महवे फसाहत दोस्त क्या दुश्मन भी हैं सारे। जमाने में तेरे तर्जे-सुखन की यादगारी है।।''

प्रतापनारायण मिश्र ने भी भारतेन्दु की तरह श्रृंगारिक और देशप्रेम की कविताएँ लिखी हैं। यदि भारतेन्दु की लोकोक्तियाँ 'ऊँची दुकान की फीकी मिठाई', 'हाय सखी रन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनों'- ठाकुर की याद मिलाती हैं, तो प्रतापनारायण मिश्र की कविताएँ भारतेन्दु की। मिश्र जी की श्रृंगारिक कविताओं में कुछ समस्यापूर्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं, जैसे- ''सिर चोटी गुथावती फूलन सों, मेहँदी रची हाथन पाँयन में। परताप त्यों चुनरी सूही सजी, मन मोहती हावन भावन में।। निस धौस बितावति पीतम के संग, झूलन में औ झुलावन में। उनहीं को सुहावन लागत है, धुरवान की धावन सावन में।।''

देशभक्तिपरक कविताओं के व्यंग्य में अद्भुत मारक शक्ति है। 'जन्म सुफल कब होय' में पादरी साहब, गोरंडदास, सेठ, लिक पिटन, पुरोहित, कनवजिया आदि पर की गयी उक्तियाँ 'गोरंडदास उवाच' की एक बानगी लीजिए, 'जग जाने इंगिलश हमें, वाणी वस्त्रहि होय। मिटै वदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय।।'

कनवजियों पर किया गया व्यंग्य निराला के 'कान्य कुब्ज कुल कुलंगार' का पूर्वाभास है।

प्रेमधन की कविताओं की भाषा भी ब्रजी है। उनमें देशभक्ति और राजभक्ति का भी अन्तर्विरोध है। फिर भी उनकी दृष्टि समसामयिक विषयों पर अधिक जमी है। एक प्रकार से वे भारतेन्दु के अनुकर्त्ता थे। भारतेन्दु ने 'बकरी विलाप' लिखा तो प्रेमधन ने 'पितर विलाप'। भारतेन्दु की तरह कजरी, चैत लिखने में भी पीछे नहीं रहे। दादा भाई नौरोजी ने पार्लियामेण्ट

के सदस्य चुने जाने पर धन्यवाद लिखा जिसमें देशभक्ति-राजभक्ति दोनों का समावेश है। अंग्रेजों ने उन्हें काला कहकर अपमानित किया। इस पर क्षुब्ध होकर उन्होंने कविता लिखी।

प्रेमधन का सबसे अधिक महत्त्व इसमें माना जाना चाहिए कि उनका ध्यान गाँव की ओर गया। 'जीर्ण जनपद' या 'दुर्दशा दत्तापुर' खंडकाव्य में 'दत्तापुर' जो प्रेमधन का अपना गाँव था, में कवि ने उसकी दुर्दशा का यथार्थवादी वर्णन किया है। संभव है, इसे लिखने में उन्हें गोल्ड-स्थिम के ऊजड़ ग्राम (डेजर्टेट विलेज) से प्रेरणा मिली हो। लघु खंडकाव्य लिखने की शुरूआत यहीं से होती है।

अन्य कवियों में जगमोहन सिंह अपनी स्वच्छन्दतावादी आवृत्ति और प्रकृति चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। रामकृष्ण वर्मा ने सत्यजीवन ओस से बहुत-सी दुर्लभ पुस्तकें छापकर हिन्दी का उपकार किया।

भारतेन्दु युग के कवियों में अधिकांश ऐसे कवि थे जो राजभक्ति के साथ-साथ देशभक्ति की रचनाएँ किया करते थे इन कवियों की रचनाओं में राजभक्ति में भी देशभक्ति का अंश कहीं न कहीं अवश्य आ जाता था किन्तु कुछ ऐसे कवि भी थे जिनकी कविताओं में राजभक्ति के कारण रीति परिपाटी प्रधान रूप से विद्यमान रहा और ये कवि रीतिकालीन विचारधारा को त्याग नहीं सकें।

रसिकेश; जीवनवृत्त अनुपलब्ध है, 'मिश्रबन्धु विनोद' के अनुसार सन् 1844 में जन्म, बाद में सन्यासी हो गये, तत्पश्चात् अयोध्या के महन्त बने। साम्प्रदायिक नाम इनका जानकी प्रसाद था। सन्यासी बनने के पहले ये पन्ना राज्य के दीवान थे। काव्य-रचनाएँ 'राम रसायन' (608 पृष्ठ), 'काल सुधाकर' (147 पृष्ठ), 'इश्क अजायब ऋतु तरंग', 'विरह दिवाकर', 'रस कौमुदी', 'सुमति पच्चीसी', 'सुयश कदम', 'कानून मजमुआ', 'रामचक्रावली', 'संग्रह वित्तावली', 'मानभंजन' तथा 'गुप्त पच्चीसी' आदि लगभग 26 ग्रंथ लिखे। इनकी कृतियों की संख्या अधिक है पर काव्यत्व की दृष्टि से रचनायें सामान्य हैं।

गोविंद गिल्लाभाई; कोई समय था जब गुजरात में व्रजभाषा की कविता का बहुत संचार था। अब भी इसका चलन वैष्णवों में बहुत कुछ है। गोविंद गिल्लाभाई का जन्म संवत् 1905 में भाव नगर रियासत के अन्तर्गत सिहोर नामक स्थान में हुआ था। इनके पास व्रजभाषा के काव्यों का बड़ा अच्छा संग्रह था। भूषण का एक बहुत शुद्ध संस्मरण इन्होंने निकाला। ब्रजभाषा की कविता इनकी बहुत ही सुन्दर और पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। इन्होंने बहुत सी काव्य की पुस्तकें लिखी हैं जिनमें के कुछ के नाम ये हैं- नीतिविनोद, श्रृंगारसरोजिनी, षट्ऋतु, पावसपयोनिधि, समस्यापूर्ति प्रदीप, वक्रोक्तिविनोद, श्लेषचंद्रिका, प्रारब्धपचासा, प्रवीनसागर। (संदर्भ- हिन्दी के साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या 238, 251-52)।

काशीराज से सम्बद्ध कवि; सेवक, सरदार, बेनीद्विज और हनुमान रीतिकालीन परम्परा के दरबारी कवि थे। सेवक ये काशी के रईस हरिशंकर के आश्रित थे और काशिराज, ईश्वरीनारायण सिंह के भी कृपापात्र थे। दोनों की प्रशंसा में उन्होंने कवित्त लिखे हैं। इन्होंने वाग्विलास नाम का नायिका भेद ग्रन्थ भी बनाया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सुन्दरी तिलक में इनके कुछ सवैये संगृहीत हैं।

अज्ञात यौवन का यह चमत्कारपूर्ण उदाहरण देखिए, 'देखिये आनि कछू दिन ते उर से उठे व्याधि के अंकुर वारे। कीजिये बेगि उपाय न तो दुःख पाय है आगे भरे पर भारे।। हो प्रिय सेवक प्राण तुम्हें सुख देहैं अनोखे विरंचि सवारे। वीर अधीर क्यों होत अरी, पीर सहेंगे विलोकनि हारे।।

सरदार; ये भी ईश्वरीनारायण सिंह के दरबारी कवि थे। इस काल के बढ़ा भाषा के ब्रजभाषा कवियों में इनका प्रमुख स्थान हैं। केशवदास के दो ग्रन्थों, कविप्रिया और रसिकप्रिया की जो टीकाएँ उन्होंने लिखी हैं वे इनकी ब्रजभाषा काव्य की पकड़ भी द्योतक हैं। ब्रजभाषा काव्य पर इनका अच्छा अधिकार था। इनका कविताकाल संवत् 1902 से 1940 तक कहा जा सकता है। ये बहुत ही सिद्धहस्त और साहित्यमर्मज्ञ कवि थे। 'साहित्यसरसी', 'वाग्विलास', 'षट्ऋतु', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'श्रृंगारसंग्रह', 'रामरत्नाकर', 'साहित्यसुधाकर', 'रामलीलाप्रकाश' इत्यादि कई मनोहर काव्यग्रंथ इन्होंने रचे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी के प्राचीन काव्यों पर बड़ी बड़ी टिकाएँ लिखी हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सूर के दृष्टिकूट और बिहारी सतसई पर बहुत अच्छी टीकाएँ इनकी हैं।

बेनीद्विज; इनका सम्बन्ध भी काशी और रामनगर दरबार से था। इनकी रचनायें भी रीतिकाव्य की हरासोन्मुखी परम्परा के मेल में है। 'अपवाद कोऊ किन कीथो करो हम नैकु नहीं सक मानती हैं। वहि छैल छबीले कि चाहत तें द्विज प्रेम की बारूनि छानती है। वेई फूँकि के पाँव धरे सिगरी अपने को सदा जे बखानती है। नहिं काज भलि ओ बुरी तें हम जानती हैं कि अजानती हैं।'

हनुमान; काशी और रामनगर दरबार के ये भी कृपापाल कवि थे और इनकी रचनाएँ भी बेनी द्विज के समान थी। 'रैन जगे तुम काहू के साथ लहे रति चैन भए अति आरसी। रावरे ओठ रह्यो रमि भौंर सो मेरे हिये में गड़ावती आरती। नैकु न आवत लाज अजौ हनुमान वहै तिय नैनन आरसी। बातें बनावट काहे लखी किन हाथ के कंकन को कह आरसी।'

ठाकुर बेनी सिंह परसेहंडी; भारतेन्दु युग की समयसीमा के अन्तर्गत आपका उल्लेख किया जा सकता है। ये हिन्दी रीति-साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। इनका जन्म सं0 (1822 ई0) में हुआ था। इनके यहाँ निरन्तर ब्रजभाषा के रसिक कवियों का जम-घट लगा रहता था। इन्होंने सं0 (1874 ई0) में 'श्रृंगार रत्नाकर' नामक एक काव्यग्रंथ बनाया था। इनका देहावसान सं0 (1884 ई0) में हुआ था।

जीवनराम भाट; इनका कृतित्व अत्यंत सामान्य कोटि का था। जन्म समय इतिहास ग्रन्थों में अज्ञात है। अनुमानतः ये संवत् (1849 ई0) के आस-पास पैदा हुए थे। ये जिला हरदोई के खजुरहा नामक स्थान के निवासी थे। इनकी आजीविका का साधन काव्यरचना ही था। इनका शरीरात संवत् (1909 ई0) में लगभग 60 वर्ष की अवस्था में हुआ था।

रचनाएँ; इनकी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। इनका पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का अनुवाद ही मात्र मिलता है।

लछिराम; जन्म सन् 1841 ई0 बस्ती जिले के अमोढ़ा गाँव में हुआ। ये उच्चकोटि के कवि थे। अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' तथा बस्ती के राजा शीतलाबख्श सिंह के यहाँ रहे और पुरस्कृत हुए। इनके अलावा दरभंगा, पुरनियाँ आदि राजाओं द्वारा भी सम्मानित हुए। जिन-जिन राजाओं द्वारा इन्होंने सम्मान पाया, उन-उन राजाओं के नाम पर इन्होंने रचनायें लिखीं।

रचनाएँ; 'मानसिंहाष्टक' (महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के नाम पर), 'प्रताप रत्नाकर', 'प्रेमरत्नाकर' (बस्ती के राजा के नाम पर) 'लक्ष्मीश्वर रत्नाकर' (दरभंगा नरेश के नाम पर), 'रावणेश्वरकल्पतरू' (गिद्धौरनरेश के नाम पर), 'कमलानन्दकल्पतरू' 'पुरनियाँ के राजा के नाम पर) आदि इनके ग्रन्थ हैं। समस्यापूर्ति में ये बड़े कुशल थे। इनकी भाषा ब्रजभाषा है। सरसता, माधुर्य और कोमलता। सरसता, माधुर्य और कोमलता इनकी काव्यगत विशेषताएँ हैं। वर्ण्य विषय की दृष्टि से अनेक ग्रन्थों को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि में वे ग्रन्थ आएँगें जिनमें रस तथा उनके भेदों का वर्णन किया गया है। दूसरी कोटि की पुस्तकों में अलंकारों शब्दशक्तियों आदि को वर्ण्य विषय बनाया गया है। रीतिकाल के आचार्यों की भाँति लछिराम ने भी काव्यशास्त्र सम्बन्धी कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है।

पर लछिराम का कवि रूप रीतिकाव्य की तरह सरस श्रृंगारिक है। ब्रजभाषा पर इनका व्यापक अधिकार था यद्यपि पद्माकर की तरह अरबी, फारसी के शब्दों को भी ये बेधड़क प्रयोग करते थे। वस्तुतः ये रीतिबद्ध काव्य परम्परा के आखिरी कवि थे।

ललिता आ0 त्रिवेदी; (मृत्यु 1903 ई0)- जन्मतिथि अज्ञात हरदोई जिले के मल्लावा नामक स्थान के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

रचनायें; 'जनक फुलवारी' (1883 ई0) लिखा। इनके अलावा 'ख्यालतरंग' तथा 'दिग्विजय विनोद' (महाराज दिग्विजय सिंह के नाम पर) आदि इनके ग्रन्थ हैं।

रामद्विज; (1850 ई0) इनका पूरा नाम रामचन्द्र था तथा जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इसलिए 'रामद्विज' लिखते थे। इनके कवित्त, सवैया की सूची उस समय की समस्यापूर्ति संग्रहों में मिलती है।

नन्दरात; जन्मतिथि अज्ञात। लखनऊ के रहने वाले थे। मिश्रबन्धुओं ने इनके श्रृंगार दर्पण' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, पर यह अनुपलब्ध है।

शिवसिंह सेंगर; (1833 ई0) उन्नाव जिले के काया नामक ग्राम में जन्म। इन्होंने कुछ स्फुट छन्द लिखे, जो उस समय के समस्यापूर्ति संग्रहों में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य का प्रथम विवरण ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' इनका ग्रन्थ है जिसमें लगभग एक हजार कवियों का परिचय है।

रीति परिपाटी के अन्य कवियों में तुलसी ओझा, नरेश, नवनिधि, पारस, फारसीराम चौबे, विद्याप्रकाश, रसिया नजीब, रामनाथ सिंह नरदेव, दुर्गादत्त व्यास, बलभद्र कायस्थ, रामरसिक साधु तथा इन्द्रभक्त आदि का नाम लिया जा सकता है। कुछ ऐसे भी रीति परिपाटी के कवि हैं जो अज्ञात हैं उनकी रचनाएँ तो हमें प्राप्त होती हैं किन्तु उनका विस्तृत विवरण हमें प्राप्त नहीं होता क्योंकि ये राजभक्ति में रचना करते थे जिससे नवजागरण के काल में भी ये सामान्य जन के बीच राजभक्तिपूर्ण रचना के कारण प्रचलित नहीं हो पाये और अज्ञात रह गये।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी साहित्य का इतिहास -आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास -डॉ0 बच्चन सिंह।
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास -(लेखक) बच्चन सिंह।
हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास -डॉ0 कुसुम रॉय।

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,36-40
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 27 फरवरी 2016

दुग्ध उद्योग : ग्रामीण अर्थव्यवस्था की संजीवनी

डॉ. सिद्धार्थ पाण्डेय*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *दुग्ध उद्योग : ग्रामीण अर्थव्यवस्था की संजीवनी* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *सिद्धार्थ पाण्डेय* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

भारत में कृषि क्षेत्र की दो महत्वपूर्ण समस्यायें हैं -प्रच्छन्न बेरोजगारी और मौसमी बेरोजगारी। प्रच्छन्न बेरोजगारी के कारण श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है जबकि दूसरी समस्या के कारण कृषि में लगे कार्यबल को वर्षभर रोजगार नहीं मिल पाता है। अतः दोनों प्रमुख समस्याओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि क्षेत्र में लगा कार्यबल अपनी पूर्ण क्षमता पर कार्य नहीं कर पा रहा है। या हम कह सकते हैं कि कृषि क्षेत्र में आवश्यकता से अधिक कार्यबल लगा हुआ है। यदि इस कार्यबल का कुछ प्रतिशत हम कृषि क्षेत्र से हटा लें तो कृषि क्षेत्र की उत्पादकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, परन्तु संसाधन विहीन ग्रामीण क्षेत्रों की इस कार्यबल को कहाँ पर लगाया जाये? यह एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में शहरों जैसे आधुनिक और विकसित उद्योग लगाना सम्भव नहीं है। अतः इसके विकल्प के रूप में कम पूँजी औपर कम श्रम वाला छोटे स्तर का उद्योग ग्रामीण पृष्ठभूमि में फिट बैठेगा; और इसके लिये डेयरी उद्योग पर विचार किया सकता है।

किसानों की अधिकतर जनसंख्या सीमांत और लघु जोतों पर निर्भर है। ऐसे सीमांत और छोटे किसानों के पास एक या दो दूध देने वाले पशु (गाय या भैंस) अवश्य होते हैं, परन्तु अधिकतर किसान उनसे मिलने वाले दूध का या तो स्वयं उपभोग करते हैं या तो फिर बहुत कम मात्रा में बाजार में बेच पाते हैं। इसका प्रमुख कारण ग्रामीण क्षेत्रों में एक विकसित तथा तीव्र मार्केट चेन का अभाव है। जिसके कारण ही ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति लीटर दूध का मूल्य २७ से ३५ रू० है वही शहरी क्षेत्रों में प्रति लीटर दूध का मूल्य ४५ से ५५ रू० है। इस प्रकार यदि ग्रामीण क्षेत्रों को एक आधुनिक तथा विकसित मार्केट चेन प्रदान किया जाय, जो सीधे शहरों से जुड़ा हो, तथा किसानों को पशुओं की संख्या बढ़ाने के लिये प्रेरित किया जाय, तो डेयरी उद्योग न केवल नई उचाईयों को छुयेगा, अपितु ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार नये अवसर बनेंगे तथा शहरों की तरफ पलायन की समस्या का भी निराकरण हो सकेगा।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, बी. एन. के. बी. पी. जी. कॉलेज [अकबरपुर] अम्बेडकरनगर (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

''आपरेशन फ्लड के पूर्व डेयरी उद्योग

भारत में दुग्ध उत्पादन को बढ़ाने के लिये १९७० में आपरेश फ्लड शुरू किया गया। सरकार का उद्देश्य हरित क्रांति के साथ-साथ श्वेत क्रांति को बढ़ावा देना था। इसके पूर्व योजना के दो दशकों में दुग्ध उत्पादन में कुछ खास उन्नति नहीं हो सकी थी, परन्तु सरकार ने प्रथम पंञ्चवर्षीय योजना से ही अपने प्रयास आरम्भ कर दिये। सरकार का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में दूध का उत्पादन बढ़ाकर शहरी क्षेत्रों में कम कीमत पर दुग्ध की उपलब्धता को सुनिश्चित करना था। सरकार द्वारा उठाये गये कुछ महत्वपूर्ण कदम निम्नलिखित हैं :

१. *मुख्य ग्राम योजना;* यह योजना डेयरी उद्योग विकास कार्यक्रम के लिये प्रथम तीन पंञ्चवर्षीय योजनाओं के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसका मुख्य उद्देश्य उच्च वंशीय सांडो को देश भर में फैलाना था। इसके लिये जगह-जगह पर बुल ब्रीडिंग फार्म खोले गये जिससे खराब नस्ल गायों की जगह उच्च नस्ल की गायों का प्रादुर्भाव हो सके। इसके साथ ही दूसरी पञ्चवर्षीय योजना के समाप्त होते-होते लगभग ६०० के०वी०एस० केन्द्र पूरे देश भर में खोले गये जो लगभग ६०२ लाख गाय तथा भैंसों का कवर करता था और जो कुल उपलब्ध पशु संख्या का लगभग १० लाख था, परन्तु एक स्थायी और उन्नत बाजार के अभाव के कारण दुग्ध उत्पादन में वृद्धि नहीं हो सकी। १९५१ से १९७१ तक दुग्ध उत्पादन में प्रतिवर्ष केवल १ प्रतिशत की ही वृद्धि देखी गयी जबकि मांग में वृद्धि इससे ज्यादा की थी।

२. *गहन मवेशी विकास प्रोजेक्ट;* के०वी०एस० की असफलता के बाद तेजी से बढ़ रहे शहरों को दुग्ध उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिये सरकार ने इस प्रोजेक्ट की शुरूआत की। इसका मुख्य उद्देश्य देशी गोवंशों का विदेशी गोवंशों के साथ संकर कराके नई और उन्नत प्रजाति के गोवंश तैयार करना था। तथा साथ ही साथ पशु स्वास्थ्य में सुधार एक महत्वपूर्ण घटक आई०सी० डी०पी० का था। १९६० तक देश में कुल मिलाकर ६२ आई०सी०डी०पी० केन्द्र खोले गये तथा के०वी०एस० योजना को इसके साथ मिला दिया गया।

३. *अमूल का उदय-आनंद (गुजरात) माडल का प्रादुर्भाव;* एशिया के सबसे बड़े डेयरी ब्राण्ड अमूल के उदय के साथ ही भारत में दुग्ध व्यवसाय के लिये एक नई तरह की सम्भावनाओं ने जन्म लिया। इसका उदय आनंद (गुजरात) से हुआ। स्वतंत्रता के समय से ही दुग्ध व्यवसाय में उत्पादन तथा वितरण एक महत्वपूर्ण समस्या बनी हुई थी। १९४० दशक के मध्य में आनंद के दुग्ध उत्पादक अपने दूध को एक निजी डेयरी फार्म 'पोल्सन' को बेंचते थे और यह फार्म इस दूध को बाम्बे भेजता था। उसी समय खैरा जिले के दुग्ध उत्पादकों ने इस फर्म से लाभ के अनुपात में उनको हिस्से की मांग की, परन्तु पोल्सन ने मना कर दिया परिणामस्वरूप दुग्ध उत्पादकों ने हड़ताल कर दिया। विवाद बढ़ता देख स्वतंत्रता आन्दोलन में अग्रणी भूमिका निभाने वाले सरदार बल्लभ भाई पटेल ने इस मामले में हस्तक्षेप किया और इन उत्पादकों को एक नया संगठन बनाने का सुझाव दिया। वहीं से ''खैरा डिस्ट्रिक को-ऑपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर'' नाम से एक संस्था रजिस्टर्ड हुई जो आगे चलकर अमूल के नाम से एशिया की सबसे बड़ी डेयरी ब्राण्ड के रूप में उभरकर विश्व के सामने आयी।

अमूल सहकारी समिति में पहले किसान ग्राम सहकारी समिति बनाते हैं। यह ग्राम सहकारी समिति जिला सहकारी समिति से जुड़ता है और जिला सरकारी समिति राज्य स्तर परक उत्पादकों से जुड़ती है। आनंद प्रारूप की मुख्य विशेषता निम्नलिखित है -

१. छोटे दुग्ध उत्पादकों द्वारा दुग्ध उद्योग का विकेन्द्रीकरण

२. गाँव स्तर की सहकारी समितियों द्वारा दुध की खरीद

३. जिला स्तर के संगठन द्वारा केन्द्रीय दूध प्रसंशकरण

४. राज्य स्तर के संगठन द्वारा दूध और दुग्ध उत्पादों का विपरण

ऑपरेशन फ्लड : डेयरी उद्योग का उन्नयन (१९७०-९६)

हरित क्रांति के समान्तर श्वेत क्रान्ति ने भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को संवारने का काम किया है। भारत सरकार ने सत्तर दशक से डेयरी विकास कार्यक्रमों की शुरूआत की जिसे ऑपरेशन फ्लड के नाम से जानते हैं। प्रारम्भ में यह कार्यक्रम विश्व खाद्य कार्यक्रम के सहयोग से शुरू किया गया तथा इस कार्यक्रम को सुचारू रूप से चलाने के लिये विश्व बैंक का सहयोग भी मिला। इस प्रोग्राम के द्वारा ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के दुग्ध उत्पादकों को एक सहकारी समिति के द्वारा जोड़कर इनके उत्पाद को अच्छी कीमत दिलाने का प्रयास किया गया। साथ-साथ ही उच्च तकनीक

के उपयोग को बढ़ावा देने के लिये सरकार ने यूरोपियड इकोनामिक कम्यूनिटी (बाद में EU) से समझौता करके भारत के डेयरी उद्योग को नया जीवन प्रदान किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य दूध के उत्पादन में तीव्र वृद्धि (फ्लड ऑफ मिल्क) करना था। तथा साथ ही किसान और दुग्ध उत्पादों के उत्पादकों के बीच के विचौलियों को हटा कर इसका फायदा किसानों को पहुँचाना था।

अतः इस तरह के ही विकास कार्यक्रमों की ही देन थी, जिसके फलस्वरूप भारत विश्व का सबसे बड़ा दूध उत्पादक देश बन गया। आपरेशन फ्लड को सफल बनाने के पीछे निम्नलिखित एजेन्सियों की महत्वपूर्ण भूमिका है -

१. *राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड :* यह कृषि एवं सिचाई मंत्रालय के द्वारा १९६५ में शुरू हुआ। इसके संस्थापक सदस्यों में डॉ० वर्गीज कुरियन थे, जिन्हें भारत में श्वेत क्रांति का जनक कहा जाता है। NDDB का वित्तपोषण भारत सरका, अमूल तथा डेनिस सरकार के द्वारा किया जाता है। इसका मुख्यालय गुजरात के आनन्द में है। ऑपरेशन फ्लड के प्रथम चरण की सफलता के पीछे NDDB का हाथ है।

२. *भारतीय डेयरी कार्पोरेशन :* १९७० में भारत सरकार ने डेयरी के विकास तथा उन्यन के लिये सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी IDC शुरू की। इस कम्पनी ने NDDB के प्रथम चरण के लिये वित्तपोषण तथा प्रमोशन का काम करने लगी।

ऑपरेशन फ्लड के तीन चरण माने जाते हैं -Operation flood 1st (1970-81), Operation flood 2nd (1981-85), Operation flood 3rd (1987-96).

Table 3.1: Achievement of Operation Flood from 1970-1996 with Select Indicators

Indicator	Operation Flood Phases		
	Phase I	Phase II	Phase III
Date Started	July 1970	Oct. 1979	April 1985
Date Concluded	March 1981	March1985	March 1996
Investments(Rs. millions)	1,165	2,772	13,031
Number of federations operating	10	18	22
Number of milk sheds covered	39	136	170
Number of dairy co-operative societies set up (Thousands)	13.3	34.5	72.5
Number of members(million)	1.75	3.63	9.26
Average milk procurement(million kg/day)	2.56	5.78	10.99
Liquid milk marketing (million liters/day)			
Rural dairies(million liters/day)			
Metro dairies(million liters/day)	2.79	5.01	10.02
Milk drying capacity (mt/day)			18.09
Number of artificial insemination centers(thousands)	3.59	8.78	
Number of AIs done (million/year)	2.9	3.5	3.88
Cattles feed Capacity (thousand mt/day)	261.0	507.5	842.0
	4.9	7.5	16.8
			3.94
	0.82	1.33	
	1.7	3.33	4.9

Source: http://www.amul.com/achievementsdairycoop.httml,p.3.

अतः उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि ऑपरेशन फ्लड के शुरू होने से दूध की प्राप्ति में वृद्धि हुई है। साथ ही डेयरी सहकारी समितियों में उच्च वृद्धि भी देखने को मिली है जोकि ऑपरेशन फ्लड के पहले चरण में १,३३,००० की तथा तीसरे चरण के अन्त तक यह बढ़कर २,२५,००० हो गयी। डेयरी सहकारी समितियाँ तथा कुल दुग्ध

प्राप्ति के बीच उच्च धनात्मक सह-सम्बन्ध देखने को मिल रहा है। इस तरह से उपर्युक्त सारणी में में हम प्रत्येक सूचक में उच्च वृद्धि देख रहे हैं।

उन्नत नस्ल की गाय तथा भैंसे

डेयरी पालन उद्योग में उच्च नस्ल की पशुओं को पाला जाता है। इसमें गाय, भैंस, उल्लेखनीय है। भैंस और विदेशी नस्ल की गायें ज्यादा मात्रा में दूध देती हैं। भारत में ३२ तरह की गायें पायी जाती हैं। गायों की प्रजातियों को तीन रूप में जाना जाता है- ड्रोन ब्रीड, डेयरी ब्रीड व ड्यूअल मिक्स ब्रीड। ड्रोड ब्रीड को ताकतवर होती है, इन्हें बैलगाड़ी या हल में भी जोता जाता है, जबकि डेयरी ब्रीड को सिर्फ दूध के लिये रखा जाता है। ड्यूअल ब्रीड घरों में पाले जाने वाले दुधारू पशु होते हैं। जिन्हें किसान अपनी जीविका चलाने के लिये रखते हैं। डेयरी में गाय पालने के लिये मुख्य रूप से तीन प्रजातियाँ हैं - रेड सिंधी, साहीवाल व गिर। ये ही सबसे ज्यादा दूध देती है, परन्तु अक्सर किसानों को इनके बारे में बहुत कम ही जानकारी होती है इसके अलावा जरसी, मूलतः अमेरीका में पायी जाती है, हालस्टन हालैण्ड में और ब्राउन स्विट्जरलैण्ड में पायी जाती है।

भारत में ५५ प्रतिशत दूध अर्थात् २० मिलियन टन दूध भैंस से मिलता है। भारत में तीन तरह की भैंसे मिलती हैं - मुरहा, मेहसना और सुरति प्रमुख है। मुरहा भैंसों की प्रमुख ब्रीड मानी जाती है। यह ज्यादतर हरियाणा और पंजाब में पायी जाती है। मेहसना मिक्स ब्रीड है। यह गुजरात तथा महाराष्ट्र में पायी जाती है। इस नस्ल की भैंस १२०० से १५०० लीटर दूध एक महीने में देती है। सुरति इनमें छोटी नस्ल की भैंस है यह नस्ल भी गुजरात में पायी जाती है तथा एक महीने में १६००-१८०० लीटर दूध देती है।

डेयरी उद्योग : तेजी से बढ़ रहा उत्पादन

डेयरी उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों में जीविका का एक प्रमुख साधन है। भारत १९९८ के बाद से ही दुनिया का सबसे बड़ा दूध उत्पादक देश है। आंकड़े बताते हैं कि दुनिया के कुल दुध उत्पादन में भारत को योगदान १७ प्रतिशत है। २००६-०७ में १,१५,९७० करोड़ रूपये मूल्य के दूध उत्पादन के मुकाबले २०११-१२ में देश में दूध का उत्पादन बढ़कर ३,०५,४८४ करोड़ रूपये का हो गया। ११वीं पञ्चवर्षीय योजना के दौरान दुग्ध उत्पादन में १६३ प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। बीते दशक में दुनिया में दुग्ध उत्पादन में प्रतिवर्ष होने वाली २.२ प्रतिशत की औसत वृद्धि के मुकाबले भारत में ४.२ प्रतिशत की औसत वृद्धि दर्ज की गई है, जो कि स्वस्थ प्रवृत्ति का संकेत है। मार्च २०१३ तक करीब १५.१ मिलियन किसानों को ग्राम स्तर की १,५५,६३४ लाख सहकारी डेयरी समितियों के अन्तर्गत लाया जा चुका है।

देश में पशु संख्या तथा दुग्ध उत्पादन की दृष्टि से उत्तर प्रदेश सबसे आगे है। प्रदेश में ६२० लाख लीटर प्रतिदिन दूध का उत्पादन होता है। परन्तु राज्य सहकारी डेयरी फेडरेशन प्रतिदिन केवल ७.१ लाख लीटर का ही उपयोग कर पा रहा है। दुध उत्पादन और उसके संस्थागत व्यावसायिक उपयोग के बीच के फासले को पाटने के लिये अमूल, मदर डेयरी पारस, नमस्ते इण्डिया, ब्राण्ड डेयरी और अनिक डेयरी जैसी डेयरी से जुड़ी बड़ी कम्पनियाँ यू०पी० में कूद पड़ी हैं।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में डेयरी विकास कार्यक्रम

भारत के लगभग ६० प्रतिशत कृषि व्यवसाय से जुड़े हैं। लगभग ७ करोड़ कृषक परिवारों में प्रत्येक दो ग्रामीण घरों में से एक डेयरी उद्योग से जुड़े हैं। भारतीय दुग्ध उत्पादन से जुड़े महत्वपूर्ण सांख्यिकी आंकड़ों के अनुसार देश में ७० प्रतिशत दूध की आपूर्ति छोटे/ सीमांत/ भूमिहीन किसानों से होती है। भारत में कृषि भूमि की अपेक्षा

गायों का ज्यादा समानता पूर्वक वितरण है। भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में डेयरी उद्योग की प्रमुख भूमिका है।

देश में सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में इस उद्योग को मान्यता दी गयी है। कृषि और डेयरी फार्मिंग के बीच एक परस्पर निर्भरता वाला सम्बन्ध है। कृषि उत्पादों से मवेशियों के लिये चारा उपलब्ध होता है; जबकि मवेशी दूध का उत्पादन करते हैं, तथा किसान इनके द्वारा उत्पादित दूध से दूध के सह-उत्पाद घी, पनीर, मट्ठा, संघनित दूध, दूध का पाउडर, दही आदि का उत्पादन करता है। अन्तर्राष्ट्रीय दुग्ध बाजार में भारत का अपने विशेष स्थान है तथा यह १४६.३१ करोड़ टन प्रतिवर्ष दूध उत्पादन के साथ विश्व का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। भारत में दूध उत्पादन की लागत अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। अमेरीक में ६८ सेंट तथा जापान में प्रतिलीटर लागत ७२ सेंट हैं वहीं भारत में मात्र २७ सेंट प्रतिलीटर उत्पादन की लागत है।

भारत में डेयरी विकास की प्रासंगिकता

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही तीव्र औद्योगिक तथा कृषि विकास परिलक्षित हुआ है, परन्तु यह विकास समान रूप से कुछ सामाजिक आर्थिक कारणों से सभी सामाजिक वर्गों में वितरित नहीं हो पाया है, परन्तु डेयरी विकास का लाभ औद्योगिक विकास तथा कृषि विकास की तुलना में काफी समानता के साथ समाज के निम्न वर्ग तक पहुँचाया जा सकता है। डेयरी विकास कार्यक्रम से मुख्य रूप से कमजोर वर्गों को फायदा पहुँचाया जा सकता है तथा साथ ही साथ यह कार्यक्रम महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण के लिये उत्तरदायी कारण बनकर उभरता है। छोटे से छोटे जोत वाले किसान भी कम से कम एक या दो गाय रख सकते हैं तथा कृषि अवशिष्टों और सामूहिक पारिवारिक श्रम के द्वारा न्यूनतम लागत पर दूध का उत्पादन करके अपनी आय को बढ़ा सकते हैं। गांवों में मानव संसाधन का बेहतर उपयोग डेयरी उद्योग के माध्यम से किया जा सकता है तथा युवाओं के लिये वैकल्पिक आय के स्रोत के रूप में दुग्ध उत्पादन एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

निष्कर्ष

डेयरी उद्योग आर्थिक विकास और सामाजिक असमानता को दूर करने में न केवल सहायक है, बल्कि लोगों के स्वास्थ्य तथा पोषण की दृष्टि से भी काफी लाभदायक है। १९६० के दशक में जब भारत दूध की कमी वाले देशों की श्रेणी में रखा जाता था आज विश्व का सबसे बड़ा उत्पादक देश बनकर उभरा है। विश्व की कुल भैंसों की संख्या का लगभग ५२ प्रतिशत भारत में पायी जाती है वहीं कुल पशुओं का पाँचवा हिस्सा भारत से है। ग्रामीण रोजगार की दृष्टि से डेयरी उद्योग एक सर्वमान्य एवं सुलभ लघु उद्योग बनकर उभरा है। इस उद्योग की रोजगार के अवसर उपलब्ध करने की क्षमता अन्य सभी उद्योगों की अपेक्षा काफी अधिक है। भारत में डेयरी विकास कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में न केवल रोजगार का भारी मात्रा में सृजन हुआ, अपितु शहरों की तरफ पलायन भी काफी हद तक नियंत्रित हुआ है।

संदर्भ ग्रंथ

वेदी, एम०एस० (१९८७) -दुग्ध विकास, विपणन और आर्थिक विकास, नई दिल्ली, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स, पृष्ठ संख्या ९

बनर्जी, ए० -डेयरिंग सिस्टम इन इण्डिय

राकोतोआरिसोअ, एम० एण्ड गुलाटी (२००६) -कमपटेटिबनेस एण्ड ट्रेड पोटेन्सियल ऑफ इण्डियाज़ डेयरी इण्डस्ट्री

बर्मा, एम०आर०, बी०सिंह, एस० प्रसाद एण्ड एस० कुमार (२०१२) प्रजेन्ट स्टेट्स ऑफ ट्रेड द ऑफ डेयरी प्रोडक्शन इन इण्डिया

सिंह, राधामोहन (केन्द्रीय कृषि मंत्री के भाषण के अंश, दिनांक ५ सितम्बर २०१४) डेयरी विजन २०१५

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,41-43
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 15 अप्रैल 2016

आज के युग में कौटिल्य के आर्थिक विचार का महत्त्व

डॉ. मनोज कुमार सिंह*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *आज के युग में कौटिल्य के आर्थिक विचार का महत्त्व* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *मनोज कुमार सिंह* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' में आर्थिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। वस्तुतः अर्थ के द्वारा राज्य का भरण-पोषण होता है। इसलिये कौटिल्य ने वार्ता ज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। ''वार्ता'' शब्द ''वृत्ति'' शब्द से उत्पादन हुआ है जिसका अर्थ है जीविका का रोजगार। कौटिल्य ने रोजगार के तीन साधनों का उल्लेख किया है -कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य (व्यापार)। यहाँ यह स्मरणीय है कि कौटिल्य ने कारीगरी तथा शिल्प को जो बहुत से लोगों के लिये जीविका के साधन हो साधन हो सकते है, वार्ता के अन्तर्गत नहीं रखा है। यही कारण है कि प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय में कौटिल्य ने शूद्रों के कार्यों का वर्णन करते हुये वार्ता और कारीगरी के कामों का अलग-अलग वर्णन किया हैं सम्भवतः वार्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन उस समय किया गया जब समाज के आर्थिक जीवन में शिल्प और कारीगरी का महत्वपूर्ण योगदान नहीं था। यद्यपि कौटिल्य के कारीगरी के काम को राव्य की आय का एक स्त्रोत माना है, तथापि उसने राज्य के आर्थिक जीवन में शिल्पियों एवं कारीगरी को महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्रदान किया है। कौटिल्य के अनुसार अनधिकृत जमीन राज्य की है। कृषि योग्य जमीन राजा उसी कृषक को दें। जो राजकर दे। केवल एक पीढ़ी के लिये पट्टे पर दी जा सकती है एवं कृषक ऐसी जमीन का खामी नहीं होता। यदि किसान खेती न कर जमीन को परती छोड़ दे, तो राजा उस किसान से जमीन छीनकर दूसरे किसान को दे सकता है या स्वयं अपने सेवकों द्वारा उस पर खेती करवा सकता है, परन्तु यदि जमीन अनुपजाऊ हो और कोई किसान अपने परिश्रम से उसे कृषि बनावें, तो राजा उस किसान को जमीन से बेदखल नहीं कर सकता है एवं पीढ़ी दर पीढ़ी उस जमीन पर किसान का ही अधिकार रहता है। अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट प्रावधान है कि सभी अनधिकृत जमीन राज्य की होती है, एवं राज्यधीन की निगरानी सीमाध्यक्ष नामक अधिकारी करता है जो जमीन

* पूर्व शोध छात्र, जय प्रकाश विश्वविद्यालय छपरा (बिहार) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

राज्य के अधिकार में नहीं होती, उस पर व्यक्ति निजी स्वामित्व का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार कौटिल्य ने जमीन के क्षेत्र में राज्य एवं व्यक्ति दोनों को ही स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया है।

कौटिल्य के अनुसार खेती योग्य सर्वोत्तम वह जमीन होती है जो सिंचाई के लिये सिर्फ वर्षा पर ही निर्भर नहीं करती, अपितु जिसके आस-पास नदी, झरने बांध एवं पानी के अन्य स्त्रोत होते हैं। इस प्रकार कौटिल्य ने कृषि के लिये सिंचाई को आवश्यक माना है और इसलिये बांध के निर्माण को राज्य का महत्वपूर्ण कार्य माना है। यद्यपि बांध-निर्माण का मुख्य दायित्व राज्य का होता है, तथापि अन्य व्यक्ति भी बांध बना सकते हैं।

यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि कौटिल्य का राज्य किसानों की निजी भूमि पर कितना नियंत्रण रखता है। हाँ! इतना स्पष्ट अवश्य है कि राज्य समाहर्त्ता एवं उसके सहायक पदाधिकारियों के द्वारा खेती योग्य सारी भूमि का अभिलेख तैयार करता है एवं फसल की बुवाई और कटनी पर पूर्ण निगरानी रखता है। राज्य ऐसा इसलिये करता है कि उस इन बातों के आधार पर किसी भी भूमि का कर-निर्धारण करने में सुविधा होती है। सामान्यतः स्वयं किसान ही इस बात का निर्णय करता है कि किस फसल को- किस भूमि पर बोए, परन्तु आपातकाल में राज्य-अपनी आवश्यकता के अनुकूल खेत में बुवाई करवा सकता है।

भूमि-कर के अतिरिक्त राज्य को सिंचित कर से भी आमदनी होती है, क्योंकि शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार राजा ही भूमि और जल का प्रभु होता है। अपने परिश्रम से खोदे हुए कुएँ या तालाब द्वारा सिंचाई करनेवाले किसानों को फसल का पञ्चमांश जलकर के रूप में राजा को देना पड़ता है। अपने कंधे पर जल लाकर सिंचाई करने वाले किसान फसल का चतुर्थांश राजकर के रूप में देते हैं एवं राजकीय नहरों से सिंचाई करने वाले किसानों का फसल का तृतीयांश कर के रूप में देना पड़ता है।

पशुपालन; राज्य पशुपालन कार्य भी करता है एवं पशुओं की देख-रेख के लिये गोध्यक्ष नामक अधिकारी को नियुक्त करता है। गोध्यक्ष राज्य के पशुओं को लेखा-जोखा अपने पास रखता है एवं पशुओं की वृद्धि और रक्षा का प्रबंध भी करता है। राज्य के अतिरिक्त व्यक्तियों को भी अपना निजी पशु पालने का अधिकार है। पशुओं से राज्य को मुख्यतः तीन लाभ होते हैं -१. बहुत से पशु खेती और यातायात के काम में उपयोगी होते हैं। २. गाय-भैंस आदि पशुओं से दूध और घी प्राप्त होते हैं। ३. कुछ पशुओं की खाल से चमड़े का सामान भी तैयार होता है। यद्यपि अर्थशास्त्र में मांस को भोज्य पदार्थ माना गया है, तथापि इससे यह नहीं परिलक्षित होता है कि पशुओं को पालन भी मांस के हेतु किया जाता है। राज्य को कृषि एवं व्यापार से जितना आर्थिक लाभ होता है, उतना पशुपालन से नहीं होता।

व्यापार; वाणिज्य (व्यापार) का प्रबंध करना भी राज्य का एक महत्वपूर्ण आर्थिक कार्य होता है। कौटिल्य के अनुसार समस्त व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण रहता है। व्यापार की देख-रेख के लिये राजा पण्याध्यक्ष नामक अधिकारी की नियुक्ति करता है। पण्याध्यक्ष ही वस्तुओं के मूल्यों को निर्धारित करता है, आयात और निर्यात के लिये वस्तुओं का निरूपण करता है, एवं व्यापारिक नियम भंग करने वाले व्यापारियों को दण्ड देता है। व्यापारी स्वदेशी माल पर पांच प्रतिशत और विदेशी माल पर दस प्रतिशत मुनाफा ले सकता है। इससे अधिक मुनाफा लेने वाले व्यापारियों को २०० पणों का दण्ड भोगना पड़ता है। यदि मजदूर लोग संघबद्ध होकर समान तैयार करें और माल की उपयोगिता को घटा दें, माल का अधिक दाम लेकर खरीदनेवाले की हानि करें और दाम घटाकर माल खरीदें जिससे विक्रेता को क्षति पहुँचे, तो ऐसा करने वाले में प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक हजार पणों का अर्थ दण्ड दिया जा सकता है। यही दण्ड उस व्यापरी को भी दिया जा सकता है जो मूल्य बढ़ाने के लिये माल को बाजार में जाने से रोक लेता है और अनुचित मूल्य पर माल विक्रय-क्रय करता है। पण्याध्यक्ष को इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिये कि एक साथ मिलकर बहुत से व्यापारी माल की खरीद-बिक्री न कर सकें। यदि राज्य में किसी व्यापारिक वस्तु की अधिकता हो, तो पण्याध्यक्ष उस वस्तु को एक ही व्यापारी के हाथ बेचे जिससे वस्तु का मूल्य अधिक न गिर सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त वस्तुओं का क्रय-विक्रय राज्य के निरीक्षण में संचालित होता है, जिससे राज्य व्यापारियों एवं उपभोक्ताओं के हितों में

सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रायः उपभोक्ताओं के हितों पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है। संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी, जो बाजार पर निगरानी रखता है, क्रय-विक्रय की ऐसी व्यवस्था करता है जिससे व्यापारी उपभोक्ताओं को ठग न सके एवं उपभोक्ताओं को लाभ हो सके। समय-समय पर संस्थाध्यक्ष व्यापारियों के तराजू तथा बटखरे की भी जांच करता है, जिससे ग्राहकों को तौल कम माल मिलने की सम्भावना न रहे। इसी प्रकार, दूसरे अधिकरण के १६वें अध्याय में कहा गया है कि वस्तुओं के क्रय-विक्रय में राजा को प्रजा के कष्ट पहुँचे, तो राजा को अपना लाभ त्याग देना चाहिये। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य राज्य एवं व्यापारियों के हितों की तुलना में उपभोक्ताओं के हितों को अधिक महत्व देता है।

खान एवं उद्योग; पशुपालन, कृषि एवं व्यापार के अतिरिक्त राज्य को खानों तथा उद्योगों से भी आमदनी होती है। कौटिल्य के अनुसार खान राज्य के कोष का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। अतएव नई खानों की खोज एवं पुरानी खानों का विकास करना राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है जिसकी देख-रेख आकराध्यक्ष नामक अधिकारी करता है। सभी खाने राज्य की सम्पित्त होती है, परन्तु सभी खानों का संचालन राज्य स्वयं नहीं करता। जिन खानों के संचालन में अत्यधिक खर्च लगे, उन्हें राज्य दूसरों के हाथों बंदोबस्त कर सकता है। राज्य स्वयं उन्हीं खानों का प्रबंध अपने हाथ में लेता है जिनमें कम खर्च और कम श्रम लगते हैं।

यह सच है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उद्देश्य समाजवादी ढांचे का समाज स्थापित करना नहीं है। इसका मात्र उद्देश्य प्रजा का भरण-पोषण करना है। फिर भी, कौटिल्य के अर्थशास्त्र की एक बात आज के युग के लिये अवश्य ही सत्य है और वह यह है कि कोई भी राज्य आज आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप नीति का अनुसरण नहीं कर सकता किसी-न-किसी रूप में राज्यों को आर्थिक क्षेत्र को नियंत्रित करना ही पड़ता है। अर्थशास्त्र के आर्थिक विचार की यथार्थता इस बात से स्पष्ट है कि आज भी भारत में कुछ उद्योग राजकीय क्षेत्र में हैं एवं अन्य व्यक्तिगत उद्योगों पर भी राज्य का कुछ-न-कुछ नियंत्रण अवश्य ही है।

संदर्भ ग्रंथ

प्राणनाथ (१९२९) -ए स्टोरी ऑफ द इकोनॉमिक कन्डीशन ए एनशिऐंट इण्डिया, लण्डन- इंगलिश
शास्त्री, ३ उदयवीर अर्थशास्त्र, हिन्दी अनुवाद सहित (दिल्ली १९६०)
कौटिल्य -अर्थशास्त्र, १/३/५, पृष्ठ संख्या ७१
वही, २/१/९, पृष्ठ संख्या ८३
वही, ३/९१, पृष्ठ संख्या ९४
वही, २/१६/१, पृष्ठ संख्या १०८
कौटिल्य - अर्थशास्त्र, ७२१२/११४
डी०डी० कोशाम्बि -एन इन्ट्रोडेक्शन टू ही स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पेज नं० २०४
शामास्त्री, आर० -द अर्थशास्त्र ए किटिंग, ६थ एडिशन (बंगलोर १९६०)
केंगले, आर०पी० -द कौटिल्य अर्थशास्त्रा, पार्ट -३ (यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, १९६५)

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,49-53
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 08 अप्रैल 2016

श्री अरविन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचार और समकालीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था

जय प्रकाश नारायण* एवं नरेन्द्र कुमार चौरासिया**

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *श्री अरविन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचार और समकालीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखक *जय प्रकाश नारायण एवं नरेन्द्र कुमार चौरासिया* घोषणा करते हैं कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेते हैं, क्योंकि हमने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देते हैं। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह हमारी मौलिक कृति है। हम शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देते हैं। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देते हैं।

समकालीन भारत वर्ष एक खास तरह की धारणात्मक विपन्नता का शिकार हो चला है। यहाँ शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षा के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम के निहितार्थों को शिक्षार्थी तक सन्तुलित और तार्किक तरीके से पहुँचाने का बुद्धि व्यवस्था कभी नहीं किया जा सका। यहाँ दर्शन, काव्य, पुराणों और आख्यानों के परिकल्पित सन्दर्भों को सूचनात्मक रूप से रटा कर आँख मूंद कर उन्हें अकाट्य प्रमाण मान लेने की धारणा स्थापित कर दी गयी। यहाँ भारतीय बुद्धिजीवियों की एक ऐसी भी कतार है जो दुनियां के सभी प्रश्नों का हल वेदों, पुराणों, बीते युग की सूक्तियों और रामचरित मानस की चौपाइयों में खोजता है। ''वह सपहिं नयावत राम गोंसाई डटि डटि मरहिं बैल की नाईं'' कह कर इस जन्म के दुःखों का मूल कारण पूर्व जन्म को मानकर आम मानव के बेहतरी के प्रयासों की सफलता को महज एक संयोग बना देता है। इस प्रकार वह कार्य और धारणा को भी एक संयोग अथवा सन्देह बना डालता है। यह युग वर्णाश्रम धर्म की मान्यताओं के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के द्वार पर है। जाति के साथ निर्धारित व्यवसाय की धारणायें इस औद्यौगिक युग में अन्तिम सांसे ले रही है और नस्ल, जाति और सामाजिक न्याय की परिशुद्धता की धारणायें प्रसव पीड़ा के दौर में है। अब भी एक ब्राहमण शिक्षार्थी अपने ब्राह्मण गुरू के समान ब्राह्मणेत्तर गुरू का चरण स्पर्श नहीं कर सकता, सनातन धर्म के पोषक मानते हैं कि धर्म की इन मान्यताओं के समाप्त होने या इनमें कोई सैद्धान्तिक फेर-बदल होने से दैवी प्रलय आ जायेगा। समकालीन बुद्धिजीवी प्रतिक्रियायें ईश्वरीय सृष्टि के साथ दखलन्दाजी हैं। वे तुलसी के अति प्राचीन वाक्य को ही अप्राप्त प्रमाण मानकर सभी प्रतिक्रिया वादी प्रहारों का उत्तर देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं- ''द्विज निन्दक बहुत नरक भोग कर, जग जनमइ बायस सरीर धरि।''

यह वास्तविक तथ्य है कि सभी धर्मों की भांति सनातन धर्म के पुरोध भी या तो अपने व्यावसायिक लाभ के लिए अथवा अपनी अन्ध आस्था अथवा मनोवैज्ञानिक गुलामी के कारण इस प्रचार तन्त्र के पहिये बनना ही अपना नैतिक दायित्व समझते

* प्रधानाचार्य, पी. सी. पी. एम. इण्टर कॉलेज [दरियापुर] फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) भारत
** तदर्थ प्रधानाचार्य, जनप्रिय औ. इण्टर कॉलेज [असधना] कानपुर नगर (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

हैं। अतः यह कोई संयोग नहीं है कि वे एक व्यापक वर्गवाद और जातीय उच्चता के अहं को प्रतिस्थापित करने वाले धार्मिक और मनोवैज्ञानिक शोषक तंत्र के पुर्जे बन गये हैं। यह एक ऐसा परलोक विश्वासी बुद्धिजीवी वर्ग है जो अपेक्षा करता है कि सारा विश्व आँखों की पकड़ में आ सकने वाला विश्व को मिथ्या मानकर कभी न दिखायी पड़ने वाले ब्रह्म को एक ठोस सत्य मान ले वह एक ऐसा तन्त्र भी हैं, जो जाने-अनजाने ''माया महाठगिनी हमजानी'' का नारा लगाकर धन जैसी जीवन की ठोस सच्चाई को भोली-भाली जनता के समक्ष हाथ का मैल कहते हुए भी अरबों रूपये की सम्पत्ति से बोझिल मठों और मन्दिरों का निर्माण कर डालता है, वह और उसके पुरोधा इतने भी संवेदनशील नहीं होते है वह सोच सके कि जिस धन से वे दिव्य भोग प्राप्त कर रहे हैं, वह उस जनता का है जो दो जून की सूखी रोटी जुटाने में ही दिन-रात एक कर देती है। इस धारा में भोली-भाली जनता का भी योगदान है जो न तो ईश्वरीय नाम पर किये जाने वाले किसी छल के प्रति निर्भय तर्कवाद का सहारा ले सकती है, न ही ईश्वरीय वातावरण में साँस ले सकती है। ईश्वरीय वातावरण में उसका दम घुटता है।

इसके ठीक विपरीत चिन्तन, आचरण और धारणा की एक ऐसी भी दृष्टि है जो सम्पूर्ण सृष्टि को कार्यकारण रूप में सम्बद्ध विकास का भौतिक चक्र मानती और ईश्वर विहीन एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करती है जो लगभग स्वैर है। यद्यपि इस स्वैर स्थिति की भयावहता से बचने के लिए ही राज्य व्यवस्था की परिकल्पना की गई है किन्तु यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि राज्य व्यवस्था प्रायः छोटे लोगों के स्वैर तन्त्र को दबाने और बड़े लोगों की स्वेच्छाचारिता के विरूद्ध ढाल बनने का ही कार्य करती है। इस स्वैर व्यवस्था के अलिखित विधान तन्त्र के अनुसार यह अन्तिम रूप में मान लिया गया है कि सृष्टि सबल धर्मों का खिलौना है। सबल व्यक्ति अपने हथकण्डों के द्वारा सत्ता के शीर्ष पर पहुंचकर कैसे भी घोटाले और अत्याचार कर सकते हैं। राजनीति के अतिरिक्त विद्या और बुद्धि की कठिनतम परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर सरकारी सेवा में पहुँच विद्वान और योग्यतम लोक सेवक भी शासन के कवच से सुरक्षित होकर भ्र-टता और अराजकता के कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं।

इस प्रकार अल्प शिक्षित राजनीतिज्ञ से लेकर विद्वान अधिकारी एवं धर्म ज्ञान से लगभग अछूती जनता से अल्प शिक्षित व्यापारी तथा धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड मठाधीश मौलवी और उनके अंध अनुगामी व्यापक लाभों के कारण अराजकता और छद्म का कोई न कोई नाटक अवश्य खेल रहे हैं। एक प्रकार का बौद्धिक बौनापन है, जो समकालीन मानव को यह समझ पाने से रोक रहा है कि अनैतिकता और चरित्र की अराजकता वातावरण को अराजकता से बोझिल करते है और सन्देह नहीं कि देर-सबेर जब अराजकता को जन सामान्य के प्रतिक्रियावाद का अस्त्र प्राप्त होगा तो ठीक उस प्रकार की प्रलय दशा उत्पन्न होगी जो प्राकृतिक तत्वों द्वारा अपने नियमों से हटकर काम करने से उत्पन्न होती है। समकालीन शिक्षा समकालीन धारणा दरिद्र मानव को यह भी नहीं समझा सकी है कि नियमों से परे हटकर काम करने की इस होड़ में यदि एक मात्र सूर्य का ताप कुछ सेण्टीग्रेट कम हो जाय तो कैसा रहेगा? समकालीन मानव में एक विषाणु की तरह प्रविष्ट हुई क्रूरता, अनैतिकता और संवेदनहीनता, समकालीन शैक्षिक वातावरण की प्रभावशीलता की देन है, यह एक स्पष्ट तथ्य है कि शिक्षा पर नौकरियों का दबाव भी इसी अनैतिक दृष्टिकोण का कारण है। प्रत्येक शिक्षिता जनता है कि शिक्षा के बल पर नौकरियाँ प्राप्त हो जाने के पश्चात् जवाब देहियों से मुक्त आराम तलब जीवन के साथ सरकारी सुरक्षा के कवच तले मनमाने अधिकारों का रक्तचूषक उपकरण प्राप्त हो जाता है।

समकालीन भारत में विदेशी मीडिया द्वारा किये जा रहे व्यावसायिक राजनीतिक हमलों के साथ सांस्कृतिक हमले की काफी जोरदार चर्चा है। पारिदृश्यिक पटल पर इसके विरूद्ध सारे आक्रोश के गर्म स्वर सुनाई पड़ते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यदि सब भारतीय जनता को नापसन्द है तो फिर इन्हें देखता कौन है? स्पष्ट है कि कुछ मुट्टी भर संस्कृति चेत्ता लोगों के अतिरिक्त सारा देश यौन अराजकता प्रदर्शक इन कार्यक्रमों को देख रहा है। अब बात ब्रह्मचर्य अथवा सतीत्व और कौमार्य से हटकर सुरक्षित सेक्स तक आ पहुँची है। अब छात्रावासों से रह कर पढ़ने वाली आधुनिकाओं ने बहन जी टाइप बनने से स्पष्ट इंकार कर दिया है। नारी मुक्ति आन्दोलन का नारा भी इसी आशय का पूरक है। एक निरपेक्ष बुद्धिजीवी यह सहज समझ सकता है कि जहाँ एक ''नारी मुक्ति'' की बात करके पुरूषों के बराबर यौन अराजकता का अधिकार पाना चाहती है, वहीं इस नारे का पोषक पुरूष वर्ग स्वतन्त्रता के नाम पर घर से बाहर निकली स्त्रियों का उपभोग कर पाने के आशय से ही इस आन्दोलन का पोषण करता है। इस रूप में सहज स्पष्ट है कि समकालीन समाज में एक स्वस्थ्य (मानसिक दृष्टि से) शुद्ध सन्तुलित दया, क्षमा, संवेदनशीलता और मानवीय गुणों से युक्त मानव के पाये जा सकने की संभावनाएं लगभग समाप्त

होती जा रही है। विज्ञान और तकनीकी विषयों ने मानव को वैज्ञानिक और अभियन्ता तो बना दिया किन्तु मानविकी के विषयों ने उन्नत मानव बनाने की अपनी प्रभुता समाप्त कर दी।

ये संदर्भ इंगित करते है कि समकालीन भारत को एक ऐसी विचारोत्तेजक शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता है जो समकालीन मानव में क्षण भर रूककर सोचने का धैर्य पैदा कर सके, पैसे और वासनात्मक भूख को नियमित करने का औचित्य बताकर मानव (नारी) शरीर को वस्तु के दर्जे लाने से रोक सके, जो समकालीन शिक्षार्थी में उद्दण्डता के विपरीत सद्विवेक पैदा कर सके कि वह प्रसन्नता पूर्वक नत होकर अनुशासन के कष्ट सह सके। ऐसे में स्पष्ट ही एक विचार प्रधान आस्थालु शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता है।

यह स्पष्ट है कि महर्षि अरविन्द के शैक्षिक विचार कुछ सीमा तक समकालीन भारत की धारणा और चिन्तन दशा से अपने संकट का शमन करने में पर्याप्त प्रभावकारी हो सकते हैं, क्योंकि पूर्व विश्लेषणों में स्पष्ट है कि समकालीन भारत की लगभग सभी विसंगतियाँ लोभ प्रेरित गैर ईमानदार वातावरण और सोच के कारण जन्मी है, यह भी कि इस दौर के लक्ष्य बहुत संकीर्ण हो चुके हैं। नेतृत्व और उदात्ता के आवेग में कष्ट सहने वाले लोग इस युग में मुट्ठी पर ही है। समकालीन मानव के सीमित लक्ष्य (भोजन, वस्त्र, आवास जैसे मात्र जैविक लक्ष्य) भी मानवीय लोभ से ही उपजे हैं। इस अर्थ में जब महर्षि अरविन्द सामान्य लक्ष्यों वाले मानव से आगे बढ़कर अतिमानव की सम्भावनाओं की ओर इंगित करते हैं तो अत्यन्त सार्थक दृष्टिगत होते हैं। यह एक सहज तथ्य है कि जब समकालीन मानव के बाह्य जैविक आवश्यकताओं और भौतिक स्वार्थों से ऊपर नहीं उठते तब तक भौतिक स्पर्धाजन्य विसंगतियों, तनाव, भौतिक संसाधनों की भूख और उनकी प्राप्ति के उन्माद से जनित संवेदनहीनता समाप्त नहीं हो सकती, तब तक मानव जाति सुखी नहीं रह सकती। समकालीन शिक्षा संस्थाओं में व्याप्त अनुशासन हीनता के पीछे भी अभाव जनित कुण्ठित मानसिकता और अदम्य भौतिक भूख ही है।

अतः यदि महर्षि अरविन्द के संकेतों पर चलकर समकालीन मानव को उक्त सीमित लक्ष्यों के लिए न सोचने को सहमत कर कुछ उच्च और बड़े लक्ष्यों की ओर सोचने की ओर प्रेरित किया जा सके तो लोभ अनैतिकता, अनुशासन हीनता, शोषण की आंकाक्षा जैसी सारी समकालीन विषमताएँ समाप्त हो सकती है। अपने शैक्षिक विचारों के सन्दर्भ में महर्षि अरविन्द एक शिक्षक से यह भी अपेक्षा करते हैं कि वह स्वयं नैतिक हो और नैतिकता का आदर्श प्रस्तुत करें। वस्तुतः आदर्श और नैतिक आचरण का सन्देश अगले व्यक्ति तक पहुँचाने का सबसे प्रभावी और सहज तरीका भी यही है। इस रूप में श्री अरविन्द के शैक्षिक विचार समकालीन शिक्षा शास्त्री के मन में व्यापक विश्वास जगाते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अरविन्द की शिक्षा का निहितार्थ

सैद्धान्तिक दृष्टि से जहाँ महर्षि अरविन्द का शिक्षा चिन्तन एक उच्च उद्देश्य को कल्याणकारी संकेत देता है, वहीं इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होनें जिन ऋषि तुल्य और उदान्त शिक्षा व्यवस्थाओं का संकेत दिया है वे अनेकशः गहरे अन्तर्विरोध और युगेतर मानकों का संकेत देते हैं। उदाहरणार्थ जब वे आध्यात्मिक विकास के लिए योग, ध्यान और ब्रह्मचर्य को शैक्षिक विचारों में सम्मिलित कर लेते हैं, तब उनके निहितार्थों के अनुसार शिक्षार्थी का अन्तिम उद्देश्य आत्म ज्ञान अथवा सच्चिदानन्द भगवान का दर्शन करना हो जाता है, क्योंकि वे मानव का यही लक्ष्य बता चुके हैं। यद्यपि यह लक्ष्य भौतिकेत्तर और उच्च तो है किन्तु इस तरह के लक्ष्य मानव के भौतिक प्रयासों को शिथिल कर देते हैं। ऐसे भावों के व्यापक प्रसार से त्याग के नाम पर एक विशेष प्रकार की बेपरवाही भी प्रचारित होती है जिससे अगली पीढ़ी को भोजन, वस्त्र, आवास की सक्रियता शिथिल होती है जो गंभीर संकट है।

महर्षि अरविन्द मातृभाषा में शिक्षा दिये जाने के साथ विश्व की अन्य भाषाओं और साहित्य के अध्ययन पर बल देते थे। उनका प्रयास यद्यपि शिक्षा को रोचक और हल्का बनाने का रहता था, प्रत्यक्ष कहानी और खेल विधियों से सिखाये जाने का था, किन्तु प्राथमिक और आध्यात्मिक स्तर पर उन्होनें जो मातृभाषा और अंग्रेजी के साथ फ्रेन्च सीखने की राय दी है वह छात्रों पर बोझ बढ़ाता है। बच्चों की शारीरिक और मानसिक क्षमता का ध्यान रखते हुए रोचक और रटने के स्थान पर समझने पर बल देने की उनकी राय निर्विवाद रूप से मूल्यवान है। वे बच्चों को क्रिया और अनुभव द्वारा सीखने के अवसर

प्रदान करने के पक्षधर हैं। उनकी यह मान्यता भी अपने निहितार्थ और प्रायोगिक स्वरूप में मूल्यवान है कि बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए तथा उनकों कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अन्ततः एक विचारक ऋषि होने के नाते वह यह भी आवश्यक समझते हैं कि बालकों चित्तवृत्ति निरोध और चिन्तन मनन की क्रिया में निरन्तर प्रशिक्षित करके चलना चाहिये। इन व्यावहारिक पद्धतियों की प्रायोगिकता निर्विवाद होने के बावजूद जब महर्षि अरविन्द शिक्षा में धर्म को इसलिए स्थान देना चाहते हैं कि वह भ्रष्टाचार को रोकता है, तब वे अव्यावहारिक अपक्व सोच वाले प्रतीत होने लगते हैं क्योंकि धार्मिक व्यवस्थाओं से जुड़े लोगों के भ्रष्टाचार की अनन्त गाथाओं से हर जागरूक व्यक्ति परिचित है। इसके अतिरिक्त रोचकता पर विशेष बल देना शिक्षार्थी में समस्याओं से जूझने और जटिल विषयों को समझने का धैर्य नष्ट कर देता है। चेतना के विकास के नाम परम् सत्ता से साक्षात्कार करने के प्रयासों पर बल देने का निहितार्थ भौतिक जगत से मानव को विरूद्ध कर देता है।

शिक्षार्थी की सुविधाओं को दृष्टि में रखकर स्थापित इन विचारों में यद्यपि नैतिकता, मानसिक शान्ति और मानवीय वृत्तियों के चमत्कारिक नियोजन की आकांक्षा ध्वनित होती है, किन्तु पाण्डिचेरी के ओरोबिल सम्बन्धी परिणामों के निष्कर्ष इन सैद्धान्तिक आकांक्षाओं से काफी अलग दिखाई देते हैं। प्रत्यक्षदर्शियों का अनुभव है कि विदेशों से अनियन्त्रित यौनाचार, के संस्कार लेकर आये विद्यार्थियों की मनोवृत्ति को योग, ब्रह्मचर्य और ध्यान के निरोध मूल्यों से युक्त स्वतन्त्र वातावरण में नियन्त्रित नहीं किया जा सका। उल्टे इन आदिम मूल्यों ने ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त को धता बताकर भारतीय शिक्षार्थियों को भी इन सुलभ साधनों का उपयोग करने में प्रवृत्त किया है। अतः अब मीमांस्य यह रह जाता है कि कौन सी पद्धति अपनायी जाये जिससे शिक्षा सिद्धान्त में निहित स्वतन्त्रता के मूल्य स्वच्छन्दता में न परिवर्तित हो, मानव को भौतिक संघर्ष में कमजोर बनाने की खामी दूर हो। मानव की अतिरिक्त शक्तियों के विकास के नाम पर वायवीय कल्पना दृष्टि का विस्तार न हो, सहजता और रोचकता के नाम पर शिक्षार्थी में तथ्यों की गम्भीरता को झेलने तथा जटिलताओं को सुलझाने की क्षमता समाप्त न हो जाये, वह मुमूर्षा की ओर जाने वाले मनोरंजक अवसानों का ही गुलाम न बन जाये। इस प्रकार महर्षि अरविन्द के शैक्षिक विचार अनेक सकारात्मक आकांक्षाओं के साथ पर्याप्त मात्रा में आंशकाओं के कुज्झटिकाच्छन्न निहितार्थ भी रखते हैं।

निष्कर्ष

पूर्व विश्लेषणों से स्पष्ट है कि महर्षि अरविन्द के शिक्षा-दर्शन के आध्यात्मिक और पारलौकिक लक्ष्य धार्मिक आवेगों से परिचलित होने के कारण समकालीन जीवन संघर्ष की धार को शिथिल करते हैं। पारलौकिक मूल्यों के आधार पर उदान्त कोटि के तार्किक मूल्यों का समावेश ही उचित होगा, शिक्षार्थी को पर्याप्त सीमा तक दी जाने वाली स्वतन्त्रता उसे अनियंत्रित करती है। समकालीन मानव को अनुशासन ब्रह्मचर्य और नैतिकता के सम्बन्ध में धर्म एवं योग की आप्त वाक्य पालन शैली से प्रभावित नहीं किया जा सकता, शिक्षक द्वारा प्रस्तुत उदाहरण भी किसी ठोक तर्क के अभाव में समकालीन मानव को प्रभावित नहीं कर सकते। अतः सैद्धान्तिक रूप में व्यापक मूल्यवान होने के बावजूद महर्षि अरविन्द के शिक्षा दर्शन में समकालीन दृष्टि से व्यापक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक फेरबदल का अवकाश है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

आयंगर, श्री निवास -*''श्री अरविन्दो''*, आर्य पब्लिशिंक हाउस, कलकत्ता-1945
कवीश्वर डा0 वा0 -*''महर्षि अरविन्द का योग दर्शन''*
डा0 इन्द्रसेन -*''इंटेगरल एजुकेशन''*
दूबे, रमाकान्त -*''भारतीय शिक्षा शास्त्री''*
नागर, डा0 पुरूषोत्तम -*''आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन''*
भट्ट, महादेव -*''अरविन्द महिमा''*
भट्टाचार्य डा0 अरविन्द -*''श्री अरविन्द दर्शन'*
वर्मा, डा0 वैद्यनाथ प्रसाद -*''विश्व के महान शिक्षा शास्त्री''*
शर्मा, डा0 उर्मिला -*''समकालीन भारतीय राजनैतिक चिन्तन में मानवतावाद''*

शर्मा, डा0 रामनाथ - *''राष्ट्रधर्म दृष्टा श्री अरविन्द''*
शर्मा, डा0 रामनाथ - *''विचार दर्शन श्री अरविन्द''*
शर्मा, डा0 श्याम बहादुर - *''विचार दर्शन श्री अरविन्द''*
त्रिपाठी, चन्द्रदीप (अनुवादक) - *''श्री अरविन्द के पत्र''*
श्री अरविन्द - *''एसेज आन दी गीता''*
श्री अरविन्द - *''ए नेशनल सिस्टम ऑफ एजूकेशन''*
श्री अरविन्द - *''दि आइडियल ऑफ ह्यूमनिटी*
श्री अरविन्द - *''दि फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर''*
श्री अरविन्द - *''दि ब्रेन ऑव इण्डिया''*
श्री अरविन्द - *''दि रिडिल ऑव दी वर्ल्ड''*
श्री अरविन्द - *''दि सिथिसिस ऑव योगा''*
श्री अरविन्द - *''दि सुपर मेन''*
श्री अरविन्द - *''दिव्य जीवन''*
श्री अरविन्द -*''भारत में पुर्नजागरण''*
श्री अरविन्द - *''मन्दिर एन्यूवल'' 1947*
श्री अरविन्द - *''विचार दर्शन''*
श्री अरविन्द - *''वन्दे मातरम्''*
श्री माता जी - *''शिक्षा''*
श्री अरविन्द - *''नवजात'',* नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली।

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,54-58
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 29 अप्रैल 2016

''बौद्ध धर्म के प्रचार में भारतीय बौद्ध आचार्यों का योगदान''

डॉ. त्रिलोकीनाथ मिश्र*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *"बौद्ध धर्म के प्रचार में भारतीय बौद्ध आचार्यों का योगदान"* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *त्रिलोकीनाथ मिश्र* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

कुषाण-युग में बौद्ध धर्म का प्रभाव मध्य एशिया, चीन, कोरिया और जापान में फैल गया। निःसन्देह इस प्रचार-प्रसार में सम्राट कनिष्क के शासन काल में सम्पन्न चतुर्थ बौद्ध संगीति का विशेष योगदान रहा। गुप्त-युग व हर्ष-युग में भी भारत के सैकड़ों बौद्ध भिक्षु भगवान बुद्ध का बहुजन हिताय- बहुजन सुखाय का संदेश लेकर मध्य एशिया, चीन, दक्षिणी तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों को गए और उन देशों के भी लोग बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने तथा सद्धर्म सीखने भारत आये। पाल-युग में भी बौद्ध धर्म और कला का प्रभाव दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों पर भी पड़ा तथा तिब्बत में भी इसी युग के बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। वास्तव में बौद्ध धर्म के प्रचार में अशोक से लेकर पाल शासकों तथा तत्कालीन बौद्ध-भिक्षुओं एवं आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा, जिनका विवरण अनुवर्ती पंक्तियों में अवधेयार्थ प्रस्तुत है :

1. *पार्श्व;* उत्तर भारत के एक ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। 80 वर्ष की आयु में बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर उस सम्पदा ग्रहण की। इतना वृद्ध भिक्षुचर्या का कैसे निर्वाह कर पायेगा यह सोचकर लड़के उन्हें चिढ़ाया करते थे, अस्तु उन्होंने निश्चय किया कि जब तक सूत्रों को याद नहीं कर लूँगा तब तक चटाई पर ''पार्श्व'' भी नहीं रखूँगा अर्थात् चटाई पर भी नहीं लेटूँगा। सम्यक् स्मृति और व्यायाम द्वारा वे तीन वर्षों में ही सभी सूत्रों में पारंगत हो गये। इसे देखकर सभी बालक युवक और वृद्ध उनके प्रति श्रद्धावनत हो गये। चूँकि तीन वर्षों तक उन्होंने अपना ''पार्श्व'' (करवट) भी चटाई पर नहीं रखा था, अतः लोगों ने उन्हें ''पार्श्व'' नाम से पुकारा।[1]

पार्श्व सम्राट कनिष्क के धार्मिक गुरू थे। उन्होंने आचार्य अश्वघोश को जन सभा में पराजित करके शिष्य बनाया था। इन्हीं की प्ररेणा से चतुर्थ बौद्ध संगीति बुलायी गयी थी और ये उसके प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष भी रहे थे।[2]

2. *वसुमित्र;* चतुर्थ बौद्ध संगीति के काश्मीरी अधिवेशन के सभापति थे। वे प्रथित विद्वान थे। इनके जीवन वृत्त के विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। त्रिपिटक के विभाषाशास्त्र तैयार करने में आपका विशेष योगदान रहा था। अभिधर्म प्रकरणपाद शास्त्र और अभिधर्म धातुकाम पाद शास्त्र को भी वसुमित्र की रचना माना जाता है।[3]
3. *कात्यायनी पुत्र;* दिव्यावदान में कात्यायन का वर्णन प्राप्त होता है उन्हें महाकात्यायन भी कहा गया है। यह माना जाता है कि दिव्यावदान बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादी शाखा का प्रमुख ग्रन्थ है और चतुर्थ बौद्ध संगीति का निरूपित विषय भी सर्वास्तिवाद ही था। इन्हें पश्चिमोत्तर भारत

* प्रधानाचार्य, सिद्धेश्वर उ. मा. विद्यालय [गोपालपुर] फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

का प्रमुख आचार्य बतलाया गया है जो रोरुक के राजा रुद्रायण के धर्मगुरु थे। तद्नुसार रुद्रायण के अनुरोध पर मगध राज ने शेला भिक्षुणी को भेजा जिसने रोरुक (अलेर पाकिस्तान) प्रदेश में स्त्रियों को भी बौद्ध धर्म की दीक्षा प्रदान की।[4]

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म में आचार्य कात्यायन को ''ज्ञान प्रस्थान शास्त्र'' का रचयिता बतलाया गया है।

4. अश्वघोष; चतुर्थ बौद्ध संगीति के उपाध्यक्ष और ताम्रपत्रों पर सम्पूर्ण विभाषा शास्त्र लिखने वाले अश्वघोष संसार के (भारत) चार देदीप्यपान सूर्यों में से एक थे, जिन्होंने विश्व को प्रकाशित किया। अन्य तीन सूर्य आर्यदेव, नागार्जुन और कुमारलब्ध थे। चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि उसकी यात्रा के समय अश्वघोष के ग्रन्थों का बड़ा महत्व था और उन्हें बहुत आदर से पढ़ा जाता था। ए0बी0 कीथ महोदय के शब्दों में अश्वघोष का कवित्व और दर्शन पर समानाधिकार था। डॉ0 सुकुमार दत्त ने समुचित ही कहा है कि अश्वघोष सभी बौद्ध आचार्यों में सर्वाधिक पूज्य थे। चीनी और तिब्बती दोनों परम्पराओं से यही सिद्ध होता है कि चतुर्थ बौद्ध संगीति में अश्वघोष की सर्वोत्कृष्ट भूमिका रही थी। इस संगीति के पारित सभी सिद्धान्तों को अश्वघोष ने प्रभावी बनाया। निःसन्देह वह अद्भुत मेधा के प्राचार्य थे।

अश्वघोष के जीवन वृत्त के संबंध में जानकारी बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। तिब्बती परम्परा व अपनी काव्य-कृतियों के अन्त में जो अल्प सूचना महाकवि ने दी है उससे ज्ञात होता है कि अश्वघोष शैकेतक अर्थात् शैकत के निवासी थी और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। स्वयं अश्वघोष ने भी अपने को साकेत वासी ''साकेतक'' लिखा है।[5]

धर्माचार्य होने के साथ-साथ अश्वघोष बहुमुखी साहित्यकार भी थे। कीथ महोदय उन्हें काव्य तथा दर्शन का समान आधिकारिक विद्वान मानते हैं। महोदय ए0ए0 मैक्डोनल ने लिखा है कि बुद्ध रचित, महाकाव्य के सभी लक्षणों से सम्पन्न महाकाव्य है। *सौन्दरनन्द* काव्य में भगवान बुद्ध के द्वारा अपने मौसेरे भाई नन्द को उपसम्पन्न करने का वर्णन है। दार्शनिक ग्रन्थों में महायान श्रद्धोत्पाद, सूत्रालंकार वज्रसूची और गन्डीस्तोत्रगाथा (गीति-काव्य) विशेष है। इसमें स्रग्धरा छन्द में लिखी हुई 29 गाथायें हैं। इस गाथा में बुद्ध एवं संघ की स्तुति की गयी है। इससे अश्वघोष की संगीत - सामर्थ्य का पता चलता है। ई0सच0 जोस्स्टन ने इनके अश्वघोष कृत होने में संदेह प्रकट किया है, परन्तु विंटरनित्ज का कहना है कि, ''यह एक सुन्दर रचना है जो रूप और विषय दोनों दृष्टियों से अश्वघोष के अनुरूप है।''[6]

5. आर्य देव; कुमार जीव के अनुसार आर्यदेव दक्षिणी भारत के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। यह ब्राह्मण धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे। नागार्जुन से शास्त्रार्थ के लिए वे श्री पर्वत पर (नागार्जुन कोण्डा) आये, उन्होंने नागार्जुन के पास सूचना भेजी। नागार्जुन ने एक पात्र में जल भरकर अपने शिष्य द्वारा आर्यदेव के पास द्वार पर भेजा। आर्यदेव ने उसे लिया और उसमें एक सौंक डालकर उसी शिष्य द्वारा नागार्जुन के पास वापस भेजा दिया। नागार्जुन ने उसे देखकर उसकी ज्ञान गरिमा समझ ली और आर्यदेव को बुला लिया। आर्यदेव ने आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया।[7]

तिब्बती परम्परा में यह मान्यता है कि नालन्दा आकर आर्यदेव ने अश्वघोष को (बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व) शास्त्रार्थ में पराजित किया था। आर्यदेव की रचनाओं में शत शास्त्र, चतुःशतक शास्त्र, नागार्जुन की माध्य कारिका पर टीका आदि ग्रन्थ प्रमुख है।

6. नागार्जुन; यह सातवाहन राजा यज्ञ श्री गौतमीपुत्र (166-196 ई0) के समकालिक और मित्र थे एक अति उच्च व्यक्तित्व के बौद्ध दार्शनिक थे। नागार्जुन के समान तार्किक विश्व-इतिहास में कोई दूसरा नहीं हुआ। उन्हें दक्षिण का सूर्य नाम से अभिहित किया गया है।

नागार्जुन की जीवनी के अनुसार, जिसका अनुवाद चीनी भाषा में कुमारजीव ने सन् 405 ई0 में किया, नागार्जुन का जन्म दक्षिण भारत में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। युआन च्वांग कहा कहना है कि उनका जन्म दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) में हुआ था। लंकारवतार सूत्र में उन्हें वेदली का निवासी बताया गया है। दूसरे मत के लोग इन्हें कांची के ''काहोरा'' का निवासी तथा अन्य सतारा जिले के ''करद'' में उत्पन्न मानते हैं। जन्म स्थली के विषय में मतभेद होने पर भी यह निश्चित है कि वे दक्षिणापथ वासी थे।[8]

जिस प्रकार नागार्जुन के जन्म स्थली के विषय में मतभेद है उसी प्रकार उनके जीवनकाल के निर्धारण में भी विद्वान एक मत नहीं हैं। महोदय ई0जे0फ्लीट ने नागार्जुन की कृतियों की तिथि 194 ई0 मानी है। जापानी विद्वान हकाजू ने नागार्जुन का समय 113 ई0 से 213 ई0 तक माना है, जबकि अन्य जापानी विद्वान इनका समय द्वितीय शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से लेकर तृतीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मानते हैं। इत्सिंग और तारानाथ इन्हें कनिष्क का समकालीन मानते हैं, परन्तु यह वह कनिष्क नहीं प्रतीत होता जिसने 78 ई0 से 101 ई0 तक शासन किया था। कल्हण ने लिखा है कि नागार्जुन वासिष्क, हुविष्क और कनिष्क तीनों के शासन काल में रहे थे। ज्ञातव्य है कि उन्होंने दीर्घ कालीन जीवन पाया था और रसायनशास्त्र के अन्वेषक माने जाते थे। नागार्जुन की समालोचित तिथि 100 ई0 से 218 ई0 तक प्रतीत होती है।

7. असंग; पेशावर के निवासी और वसुबन्धु के बड़े भाई थे।[9] असंग ने विज्ञान को बौद्ध क्षणिकवाद के साथ जोड़ दिया। यही क्षणिक विज्ञानवाद, दिंग्नाग, धर्मकीर्ति आदि बड़े-बड़े बौद्ध विचारकों का दर्शन था। इसी दर्शन ने कालान्तर में गौड़पाद और शंकराचार्य के दर्शन को जन्म दिया।

असंग ने घूम फिर कर अपने बौद्ध दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने आयुतो राज्य की यात्रा करते समय आयुतो नगर (डौड़िया खेड़ा, जिला उन्नाव अथवा अयोध्या, उ0प्र0) के दक्षिण पश्चिम में 5-6 ली अर्थात् एक मील से कुछ अधिक की दूरी पर एक पुराने संघाराम के अवशेष देखे थे, जहाँ बोधिसत्व असंग ने विद्याध्ययन किया था।

8. चन्द्र गोमिन; पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए थे।[10] ये वसुबन्धु के प्रशिष्य और स्थिरमति के शिष्य थे। सद्धर्म प्रचार के लिए वे लंका गये। वहाँ से वापसी के समय दक्षिणी भारत में उन्होंने पतंजलि के 'महाभाष्य' की एक प्रति प्राप्त की थी जिसे उत्तरी भारत लाकर उन्होंने विलुप्त परम्परा को पुनर्जीवित किया। नालन्दा के आचार्य चन्द्र कीर्ति के साथ उनका शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। उनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं- चन्द्र व्याकरण, शिष्य लेख, धर्मकाव्य, आर्य साधन शतक, आर्य तारान्तर बलि विधि और लोकानन्द नाटक।

9. दिङ्. नाग; आचार्य दिङ्.नाग का जन्म तमिल देश के कांची (कांजीवरम्) के समीप सिंहचक्र नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने हीनयान और महायान दोनों के मलिक सिद्धान्तों को अध्ययन किया। दिंङ्.नाग नालन्दा महाबिहार में भी गये, जहाँ उन्होंने सुदुर्जय नामक एक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में परास्त किया। उन्होंने शास्त्रार्थ करते हुए ओडिविश (उड़ीसा) और महारट्ठ (महाराष्ट्र) का भी भ्रमण किया। कहा जाता है कि उड़ीसा के एक जंगल में उनकी मृत्यु हुई। दिंङ्.नाग के शिष्यों में धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कर्मशील के नाम उल्लेखनीय है।

दिंङ्.नाग ने न्याय दर्शन पर लगभग सौ पुस्तकें लिखी। जिनमें से जिनके चीनी और तिब्बती अनुवाद हो गये थे, उनकी सूची को बुन्यू नज्यु ने अपनी ग्रन्थ सूची में लिपिबद्ध किया है। वे धर्म प्रचार के लिए चीन गये। लामा तारानाथ के अनुसार चीन में महायान बौद्ध धर्म वसुबन्धु के शिष्यों द्वारा पाँचवीं शताब्दी में पहुँचा, जिसमें दिंङ्.नाग का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसकी पुष्टि 'काम कायानिकन' से हो जाती है। चीनी यात्री हेन्सांग ने भी इसका उल्लेख किया है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' है जिस पर दश प्रामाणिक टीकायें लिखी जा चुकी हैं।[11]

10. वसुबन्धु; वसुबन्धु पेशावर के निवासी और असंग के अनुज थे। इनके सबसे छोटे भाई का नाम विरचिवत्स था, जिसका कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। असंग और वसुन्धु दोनों भाईयों की शिक्षा कश्मीर में सम्पन्न हुई। जहाँ उन्होंने विभाषा शास्त्रों का और वैदिक शास्त्रों का अध्ययन किया।

चीनी यात्री हेन्सांग ने अपने यात्रा विवरण में वसुबन्धु का पर्याप्त उल्लेख किया है। इनके दो जीवनी ग्रन्थ क्रमशः कुमार जीव (401 ई0-409 ई0 तक) और परमार्थ (499 ई0-560ई0) द्वारा लिखे गये थे। कुमार जीव का ग्रन्थ अप्राप्त है, लेकिन परमार्थ का प्राप्त है जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान टकाकुसु ने किया है।

अयोध्या उस समय भी बौद्ध विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। अस्तु वसुबन्धु अयोध्या आकर यहाँ के प्रसिद्ध हीनयानी आचार्य बुद्धमित्र से दीक्षाग्रहण कर प्रव्रजित हुए।

आचार्य नरेन्द्रदेव वसुबन्धु को विज्ञानवाद का प्रसिद्ध आचार्य मानते हैं। अपने अनुज आर्य असंग के प्रभाव के कारण वे महायान सम्प्रदाय के योगाचार के मानने वाले हो गये थे। उल्लेखनीय है कि अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों तक आर्य असंग के साथ रहे थे। 80 वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ था।[12]

आचार्य वसुबन्धु अपने समकालीनों में 'द्वितीय बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध थे। ''यं बुद्धिमतामग्रयं द्वितीयमिव बुद्धिमित्याहुः।''

किसी मनुष्य के लिए यह प्रशंसा साधारण नहीं है। अभिधर्मकोष पर जो विस्तृत व्याख्यापरक साहित्य लिखा गया है, उससे ज्ञात होता है कि कितना विस्तृत प्रभाव इस ग्रन्थ का लोगों के मन पर पड़ा है अभिधर्मकोष के अतिरिक्त वसुबन्धु की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'परमार्थसप्तति' है जो उन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध सांख्यविद्वान् विन्धवासी के ग्रन्थ सांख्यसप्तति के खण्डन के रूप में लिखी थी। एक महायानी आचार्य के रूप में उन्होंनें सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, महापरिनिर्वाणसूत्र और वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता पर व्याख्याएं लिखीं। आचार्य वसुबन्धु ने एक छोटी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' भी हमें दी है, जो 'विंशिका' और 'त्रिंशिका' के दो रूपों में पायी जाती है, जिनमें क्रमशः बीस और तीस कारिकाएँ हैं। राहुल जी उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाद विधान' मानते हैं जो तर्कशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। दोनों ग्रन्थ चीनी में प्राप्त है। आचार्य नरेन्द्रदेव उनके ग्रन्थ 'विंशतिका' को विज्ञानवाद का आधार ग्रन्थ मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'त्रिंशतिका' तथा उसकी टीका 'सिद्धि' को भी उन्हीं की रचना बताते हैं। चीनी बौद्ध ग्रन्थों में वसुबन्धु के 28 ग्रन्थ बताये गये हैं जिनमें से 19 महायान के हैं। शेष हीनयान के थे। इनमें से परमार्थ समृत्ति, तर्कशास्त्र, वादविधि, गाला संग्रह और अभिधर्म कोष हीनयान से सम्बन्धित थे। जबकि सद्धर्म पुण्डरीक टीका, महापरिनिर्वाण सूत्र टीका, वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता टीका, विज्ञप्ति पात्रता सिद्धि, पंच स्कन्ध प्रकरण, कर्म सिद्धि प्रकरण, महायान सूत्रालंकार टीका, प्रतीत्य समुत्पादसूत्र टीका, मध्यान्न विभाग भाष्य महायान से सम्बन्धित ग्रन्थ थे। राहुल जी को तिब्बत की यात्रा के समय वसुबन्धु कृत ही हस्तलिखित 'अभिधर्म कोष भाष्य' ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ हैं।[12]

धर्म प्रचार के लिए वे स्यालकोट और कौशाम्बी बौद्ध केन्द्रों में भी गये थे। स्थिरमति, दिंङ्.नाग, आर्य विमुक्त सेन और गुणप्रभ को इन्हीं का शिष्य बताया गया है।

11. आचार्य धर्मकीर्ति; चोल देश के तिरूमल्लई नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे। ये दिंङ्.नाग के एक उत्तराधिकारी और अद्वितीय प्रतिभा के नैयायिक थे। डॉ0 श्रेरवात्स्की ने उनकी समानता योरोप के प्रसिद्ध दार्शनिक 'काण्ट' से की है। उनके ब्राह्मणप्रतिवादियों ने भी उनकी तर्कशक्ति की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। वे न्याय दर्शन के पारंगत थे। बौद्ध न्याय का अध्ययन उन्होंने दिंग्नाग के शिष्य ईश्वर सेन से किया था। वे नालन्दा में धर्मपाल के भी शिष्य रहे थे। धर्मकीर्ति नामक दो आचार्यो का उल्लेख बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। दूसरे धर्मकीर्ति दीपांकर श्रीज्ञान (दसवीं शताब्दी) के समकालीन थे और तंत्र शास्त्र में प्रकाण्ड विद्वान् थे।

लामा तारानाथ ने लिखा है कि धर्म कीर्ति नालन्दा महाविहार के अध्यक्ष धर्मपाल (540 से 610 ई0) के शिष्य थे। चीनी स्त्रोतों में धर्मकीर्ति को ईश्वरसेन का शिष्य बताया गया है। आचार्य परम्परा में वसुबन्धु, दिंङ्.नाग, ईश्वरसेन और धर्मकीर्ति का उल्लेख चीनी स्त्रोतों के साथ-साथ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी किया गया है।

धर्मपाल और ईश्वरसेन दोनों समकालीन और नालन्दा महाविहार में आचार्य थे। डॉ0 जोशी का मत है कि धर्मकीर्ति ने नालन्दा में धर्मपाल से विज्ञानवाद और ईश्वरसेन से 'प्रमाणसमुच्चय' पढ़ा था।[13]

12 बुद्धपालित एवं भव्य; नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद के मुख्य व्याख्याकारों में बुद्धपालित और भावविवेक (या भव्य) का नामोल्लेख आवश्यक है। ये दोनों विचारक पॉचवी शताब्दी में आविर्भूत हुए। बौद्ध दर्शन के इतिहास में उनका विशेष महत्त्व इस कारण है कि ये तर्कविद्या के क्रमशः 'प्रासंगिक' और 'स्वातन्त्रय' सम्प्रदायों के अन्य प्रसिद्ध विचारक हैं।

13. धर्मपाल; धर्मपाल अपने युग का महान विजेता और सम्राट था। इस परम सौगत[14] सम्राट ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को तत्कालीन जगत में बौद्ध धर्म और दर्शन का महान केन्द्र बना दिया। इस प्रकार इस युग में यह भी नालन्दा के समान बौद्ध विद्या का प्रथित केन्द्र बन गया, जहाँ भारत के सभी भागों तथा तिब्बत और अन्य विदेशी देशों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। इसी विश्वविद्यालय से बहुत से प्रथित बौद्धाचार्य (भिक्षु और अर्हत) विदेशों को जाते थे।

14. देवपाल; देवपाल बौद्ध धर्म का महान् उन्नायक था। उन्होंने श्री त्रैकूटक मन्दिर का पुनरूद्धार किया था। यही मन्दिर कालान्तर में 'सोमपुरी बिहार' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके ध्वंसावशेष पहाड़पुर में प्राप्त होते हैं। सोमपुरी बिहार भी विद्या और विद्वानों को केन्द्र था। इसी युग में शैलेन्द्रवंश के साथ भी सम्पर्क बना रहा। तारानाथ के अनुसार बौद्ध धर्म सिंहल द्वीप, यवद्वीप (जावा), ताम्रद्वीप, सुवर्ण द्वीप, धन श्री (धान श्री) द्वीप और पंगु द्वीप (पयूग्) में फैल गया था।[15]

15. अतिश दीपांकर श्रीज्ञान; अतिश अथवा दीपांकर श्रीज्ञान का नाम तिब्बत के धार्मिक इतिहास में भगवान् बुद्ध के बाद ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उनका जीवन अत्यन्त रोमांचक रहा है। दसवीं शताब्दी के अन्त में उनका जन्म हुआ था। शिक्षा पाने के बाद बौद्ध संघ में प्रवेश करने पर अल्प काल में ही उन्होंने बौद्ध शास्त्रों पर भी अपना अधिकार जमा लिया। उन्होंने सुवर्ण द्वीप के अतिरिक्त श्रीलंका की भी धर्म यात्रा की थी। इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों में दीपांकर श्री ज्ञान की ख्याति बहुत ऊँची बढ़ गयी थी। उन्हें बौद्ध आचार्यो का प्रधान मान लिया गया था तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालय का प्रधान बनाया गया था।

दीपांकर ने तिब्बत में रहकर संस्कृत बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया और दर्शन तिब्बती भाषा में अध्ययन किया। उन्होंने तिब्बत के विभिन्न भू-भागों की भाषा भी सीखी थी। वहाँ रहते हुए 13 वर्षीय प्रवास में बहुत से ग्रन्थों का निर्माण किया और 105 से अधिक धर्मोपदेश दिये। उन्होंने तिब्बत के बौद्ध धर्म को विशुद्ध बनाकर उसे गौरव प्रदान किया और वहाँ के जन मानस में अपना गौरवमय स्थान बना लिया।[16]

16. अभयांकर गुप्त; इनका जन्म झारखण्ड (वैद्यानाथ के आस-पास का भू-भाग) में क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से हुआ था। वे बौद्ध साहित्य और दर्शन के उच्च कोटि के विद्वान थे। बाद में उन्होंने अवधूतिया के शिष्य सोरिया से सिद्धचर्या की दीक्षा ली थी। यह प्रसिद्ध सिद्धाचार्य पाल शासक रामपाल का समकालीन थे।[17]

17. कमलशील; नालन्दा के आचार्य और आचार्य शान्तरक्षित के शिष्य थे। जिस समय तिब्बत में कुछ धार्मिक मतभेद उत्पन्न हो गया था, उस समय भिक्षु शान्त रक्षित के निर्देशानुसार आचार्य कमलशील को उस मतभेद को दूर करने के लिए आमंत्रित किया गया। तिब्बत जाकर उन्होंने अपने विद्या बल से वहाँ के धार्मिक मतभेद को समाप्त किया।

18. पद्म संभव; पद्मसंभव का जन्म उद्यान में हुआ था। वे बौद्ध धर्म की शिक्षा-दीक्षा के लिए बोध गया आये। यही से उन्होंने धर्म प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया।[18] तांत्रिक बौद्ध धर्म में उनकी विशेष अभिरूचि थी। यह ज्ञातव्य है कि तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये आचार्य शान्तरक्षित को आमंत्रित किया गया था। लेकिन तिब्बत में जब पुनः धार्मिक मतभेद उत्पन्न हुआ तो उस समय तंत्र विद्या मे पारंगत आचार्य पद्मसंभव को भारत से आमंत्रित किया गया। यह मान्यता है कि वे 747 ई0 में तिब्बत पहुँचे थे। उन्होंने तिब्बत में धार्मिक शान्ति स्थापित की।

पद्मसंभव को तिब्बत में लामा धर्म का संस्थापक माना जाता है। इलियट महोदय बंगाल से पद्मसंभव का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते है। तिब्बत की राजधानी ल्हासा से लगभग 30 मील दूर 'समये संघाराम' की स्थापना ओदन्तपुरी बिहार (बंगाल) के आधार पर करवाई थी। महोदय वाडेल ने इसका नाम ब्सम-यश लिखा है। यही बिहार बौद्ध धर्म के अध्ययन तथा अनुवाद कार्य का केन्द्र बना जहाँ से तिब्बत तथा तिब्बत से बाहर प्रचार-प्रसार होता रहा।[19]

वास्तव में बौद्ध धर्म के प्रचार में तत्कालीन बौद्ध भिक्षुओं एवं आचार्यो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन्दर्भ

[1]वाटर्स, यु0 ट्रे0, इ0, पृष्ठ संख्या 208

[2]बे0बु0लि0से0ए0, पृष्ठ संख्या 16

[3]वही, पृष्ठ संख्या 273

[4]दिव्या0, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या 469-70

[5]सौन्दरनन्द काव्य का अन्तिम वाक्य, पृष्ठ संख्या 126, सं0 हरप्रसाद शास्त्री संस्करण

[6]हिस्ट्री ऑफ इण्डिया लिटरेचर, भाग दो (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1933) पृष्ठ संख्या 266

[7]हे0भा0या0, पृष्ठ संख्या 351
[8]लंकावतार सूत्र, 118/13-16
[9]गुप्त वाकाटक युग, पृष्ठ संख्या 406
[10]गैरोला, सं0सा0सं0इ0, पृष्ठ संख्या 231
[11]सं0सा0सं0इ0, पृष्ठ संख्या 230
[12]बौ0सं0, पृष्ठ संख्या 318
[13]गैरोला, सं0सा0सं0इ0, पृष्ठ संख्या 229
[14]धर्मपाल देव का खालिमपुर ताम्र पत्र अभिलेख, पृष्ठ संख्या 29
[15]भा0बौ0ध0इ0, पृष्ठ संख्या 138-139
[16]अलका चट्टोपाध्याय -'अतिश एण्ड टिबेट',
[17]बौ0सं0, पृष्ठ संख्या 413
[18]हि0बु0, जि0 3-349
[19]हि0बु0, जि0 3/350-351, 380

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,59-61
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 05 फरवरी 2014

शक्तिवाद की वैज्ञानिकता

डॉ. स्मिता द्विवेदी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *वैदिक शक्तिवाद की वैज्ञानिकता* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *स्मिता द्विवेदी* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

प्राचीनकालीन भौतिक विज्ञान के वैज्ञानिकों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का कारण द्रव्य था। यह द्रव्य ही उस सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र परिणाम था। चिरकाल तक द्रव्य को ही परिच्छिन्न ससीम अनेक जातिक, आणविक, साकार, गुरूत्वाकर्षक, घार्षणिक, बहुरूपी, रासायनिक निर्वाचित, पारम्परिक सम्बन्ध युक्त शक्तिमय, घनत्वयुक्त, उष्णताग्राहक, अविनाशी, निष्क्रिय, चौम्बिक, दशापरिवर्तनशील, घातक दबाव के अधीन, गौणगुणवाला, इन्द्रियग्राह्य माना जाता रहा।

तत्पश्चात् एक समय ऐसा आया जब वैज्ञानिक परमाणुवाद पर जोर देने लगे और सृष्टि का कारण कुछ परिमित पदार्थों के परमाणुओं के योगायोग को मानने लगे। किन्तु कुछ समय के उपरान्त परमाणुओं की इस भिन्नता का भी खण्डन कर समस्त पदार्थों को एक ही प्रोटाइल नामक पदार्थ का शिकार माना जाने लगा। यही पदार्थ सृष्टि की उत्पत्ति का मूलतत्त्व भी समझा जाने लगा।

इसके पश्चात् वैज्ञानिकों का ध्यान शक्ति की ओर गया और चिरकालीन विचार से उनकी समझ में यह आया कि असल में शक्ति ही सृष्टि का मूल कारण है और धीरे-धीरे ये लोग शक्ति के छः रूप मानने लगे-गति, ताप, प्रकाश, विद्युत, चुम्बक और रसायन।

वैज्ञानिकों का बहुत सा समय इन्हीं शक्तियों की खोज में व्यतीत हुआ। आज भी मूल शक्ति और उसके प्रकार भेदों की छानबीन का विषय चल ही रहा है। परन्तु कुछ वर्ष हुए जब पोप ने अपनी विवेचना से यह भी सिद्ध कर दिया कि यह पूर्वोक्त छः प्रकार की शक्तियाँ असल में विभिन्न नहीं है एक ही वस्तु है। ये आपस में रूपान्तरित भी हो सकती है। शक्तियों का यही आविर्भाव और तिरोभाव है। अन्यथा इनकी उत्पत्ति और नाश सम्भव ही नहीं होता। किन्तु एक समय ऐसा भी आया जबकि प्राण और जीवन नाम की दो अन्य शक्तियों की भी सत्ता स्वीकार की जाने लगी। अन्त में यह निर्णय लिया गया कि

* पूर्व-अतिथि प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, आर्य महिला डिग्री कॉलेज चेतगंज वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

वे समस्त शक्तियाँ किसी एक नित्य अज्ञेय अपरिच्छिन्न मूल शक्ति का परिणाम है। इसका श्रेय हर्बट स्पेंसर और उनके अनुयायियों को मिला।

सर विलियम क्रुक्स साहब ने भी एक बार ब्रिटिश एसोसिएशन में इसी अज्ञेय शक्ति पर अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा था कि ''जड़ वस्तु और जड़ शक्ति के मूल में एक सूक्ष्मतम चेतनशक्ति विद्यमान है।

इस शक्ति सिद्धान्त के वैज्ञानिक रहस्य को भारतवासी बहुत पहले से जानते हैं। स्वामी शङ्कराचार्य ने वेदान्त भाष्य में शक्ति के विषय में लिखा है कि शक्ति से ही जगत उत्पन्न होता है। जगत् शक्ति की ही परिणति है।

योगवशिष्ट रामायण के अनुसार परिछिन्न और अपरिच्छिन्न सब प्रकार की सत्ता ही शक्ति है प्राचीन दार्शनिकों ने शक्ति को आठ प्रकार के मूल पदार्थों में माना है।

किन्तु शिवादित्य के सप्तपदार्थी संहिता के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्मादि के स्वरूप को ही शक्ति बतलाया है। न्याय, मीमांसा इत्यादि दर्शनों में भी अनेक प्रकार से शक्ति को स्थापित किया गया है। वेदों के स्वाध्याय से भी हमें शक्ति के एकत्व का निश्चय होता है।

प्राचीन और पौरस्त्य विद्वानों के मतों का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक वस्तु में प्रकृति और वासना है। परमाणु तक में चेतना और इच्छाशक्ति है। अनेक विद्वान मूल शक्ति को इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति भी मानते हैं।

वैज्ञानिकों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अब तक की हमारी खोज का यह परिणाम है कि इस द्रव्यात्मक जगत को इस रूप में लाने वाली इसके अन्दर एक सञ्चालक प्राणशक्ति है और इसके पीछे भी एक सर्वव्यापी इच्छा शक्ति है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस शक्ति को जब 'बुद्धि' भी कहने लगे हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु में हमें बुद्धि मालूम होती है। वृक्ष पर चढ़ने वाली बेल में भी हम बुद्धि का अनुभव करते हैं।

क्रिस्टल की उत्पत्ति, स्थिति, साधारण, धर्म संघटन और अन्यान्य घटनाओं की आलोचना से यह विश्वास होता है कि सम्पूर्ण जड़ जगत पर एक मात्र शक्ति का ही आधिपत्य है। इस शक्ति को ही हम जीवन कह सकते हैं। ताप, प्रकाश, रसायन, विद्युत, योगाकर्षण आदि शक्तियाँ इस जीवन शक्ति का ही प्रकाश हैं।

इस तरह हमें यह पता चलता है कि अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक लोग द्रव्य और शक्ति के स्थान में अब प्रकारान्तर से सच्चिदानन्द स्वरूपिणी शक्ति की कल्पना करने लगे हैं।

आर्य महर्षियों को बहुत पहले से ही ज्ञात था कि इस संसार का कारण चिन्मयी, प्राणस्वरूपिणी, संसार व्यापिनी एकमात्र शक्ति ही है। इसे दुर्गासप्तशती में इस प्रकार नमन किया गया है- *या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता/ नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।*

विष्णु पुराण के अनुसार शक्ति के मुख्य तीन रूप माने गए हैं - पहला परा (विष्णु शक्ति), दूसरी अपरा (क्षेत्रज्ञाख्या), तीसरी अविद्या (कर्म संज्ञाख्यौ)।

''विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्मसंज्ञाख्या तृतीया शक्तिरिष्यते।।''[1] पहली परा शक्ति (वैष्णवी शक्ति) ही महा माया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार इसी के रूप हैं- इसी की परिणति हैं और शक्ति के इन तीनों रूपों से आर्य साहित्य मण्डित है।

मार्कण्डेय पुराण में शक्ति की उपासना का विशेष फल बताया गया है। बन्ध्या स्त्री यदि देवी के महात्म्य को सुने तो वह उत्तम पुत्र को प्राप्त करती है- *यच्च किञ्चित क्वचिद्स्तुसदसद्वाखिलात्मिके। तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।।*[2] हे देवी! सर्वत्र जड़-चेतन जगत् में जो कुछ आत्मस्थ शक्ति है वह तू ही है।

दुर्गासप्तशती में मूर्तिरहस्य के वर्णन प्रसङ्ग में देवी का महात्म्य वर्णित है। उनके अनुसार नन्दा नाम की देवी जो नन्द से उत्पन्न है उनकी यदि भक्तिपूर्वक स्तुति और पूजा की जाए तो वे तीनों लोकों को उपासक के अधीन कर देती है- *ॐ नन्दा भगवती नाम या भविष्यति नन्दजा। स्तुता सा पूजिता भक्त्या वशीकुर्याज्जगत्रयम्।।*[3]

रक्तदन्तिका नाम की देवी शक्ति वह है जिसकी उपासना करने पर वह भक्तों के समस्त भय को दूर कर देती है।

अन्नपूर्णा देवी जो उपासना करने पर साधक को धन-धान्य से पूर्ण कर देती है। उनका महात्म्य अन्नपूर्णाष्टकम् में इस प्रकार वर्णित है- *कैलासाचलकन्दरालयकरी गौरी ह्युमाशांकरी। कौमारी निगमार्थगोचरकरी ह्योंकारबीजाक्षरी। मोक्षद्वारकपाटपाटनकरी काशीपुराधीश्वरी। भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी।।*[4]

कैलाश पर्वत की कन्दराओं में निवास करने वाली जो कि उमा, शांकरी, गौरी तथा कौमारी के नाम से भी जानी जाती है तथा समस्त निगमागमों के अर्थ को प्रकट करने वाली, जिनका बीजमन्त्र ही प्रणव है (ओंकार) है। ऐसी मोक्ष द्वार के दृढ़ को तोड़ने वाली काशी की अधिष्ठात्री तथा शरणागतों के लिए दया और कृपा की अवलम्बन कराने वाली है। हे भगवती माता अन्नपूर्णेश्वरी ज्ञान एवं वैराग्य की सिद्धि हेतु मुझे भिक्षा प्रदान करो।

शक्ति की कभी तो अन्नप्रदातृ के रूप में तो कभी पापों का प्रक्षालन करने वाली गङ्गा के रूप में भी उपासना की जाती है। *ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती। स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती। क्षोणी पृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूनिर्भरं भर्त्सयन्ती। पाथोधि पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु।।*[5]

ब्रह्माण्ड को खण्डित करती हुई हर के शिर पर जटा रूपी लता को उल्लासित करती हुई स्वर्गलोक में गिरती हुई, स्वर्णपर्वत सुमेरू की गुहाओं तथा गण्डशैली से फिसलती हुई, भू पृष्ठ पर लोटती हुई, पाप समूहों की सेना को पूर्ण रूप से फटकारती हुई, समुद्र को भरती हुई पवित्र स्वर्गलोक सरिता गंगा हमें पवित्र करें।

इस पवित्र गङ्गाष्टक का जो श्रद्धापूर्वक पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त होकर विष्णु लोक को जाता है।

महर्षि वेदव्यास ने भी इसी महामाया शक्ति को परब्रह्म बतलाया है। महाभागवत के अनुसार- ''या मूलप्रकृतिः सूक्ष्मा जगदाद्या सनातनी/ सैव साक्षात् पर ब्रह्म सास्माकं देवतापि च।।'' अर्थात् जो सनातन, सूक्ष्म, मूल शक्ति है। वही परब्रह्म परमात्मा है। सृष्टिक्रम का वर्णन करते हुए महर्षि वेदव्यास ने आदि शक्ति का तात्विक और आलङ्कारिक वर्णन किया है। वर्णन का अभिप्राय यह है कि सृष्टि के आदि में न सूर्य था, न चन्द्र और न नक्षत्रादि। न दिन था, न रात, न अग्नि, न दिग्दिगन्त और न इनका ज्ञाता। विश्व ब्रह्माण्ड उस समय शब्द-स्पर्शादि गुणरहित, तेजोवर्जित और अन्धकारमय था। केवल एक ब्रह्मस्वरूपिणी, सच्चिदानन्द-विग्रहा, महामाया। मूलशक्ति का ही अस्तित्व था। उसने अपनी इच्छा से सत्, रज और तम गुणों द्वारा एक चेतनहीन पुरूष को उत्पन्न किया और उसमें अपनी सिसृक्षा शक्ति प्रविष्ट की। उस पुरूष से फिर गुणत्रय के विभागानुक्रम द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न हुए। इसके बाद भी सृष्टिक्रम में गति न देखकर भगवती महामाया ने उस मूल पुरूष को जीवन और 'परमपुरूष' दो भागों में विभक्त किया और मूल प्रकृति स्वयं 'माया' परमा और विद्या-इन तीन रूपों में विभक्त हुई।

इनमें जीवों को मोहित करने वाली और संसार में प्रवृत्त कराने वाली माया जीवों में पारिस्पन्दनादि गुणों को उत्पन्न करने वाली चैतन्यमयी संजीवनी शक्ति परमा और तत्त्वज्ञान स्वरूपा जीवों को संसार से निवृत्त कराने वाली शक्ति विद्या कहलायी।

इस उपर्युक्त तर्क परम्परा के विषय में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भौतिक विज्ञान और भारतीय शक्तिवाद की दृष्टि से शक्ति ही सृष्टि का आदि कारण है। परन्तु ब्रह्मवाद और जगत् के अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से ईश्वर ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना जाता है।

जड़ प्रकृति ईश्वर के सहयोग से चेतनता को प्राप्त करती है या देवी ने निर्जीव मूलपुरूष में चेतनता उत्पन्न की दोनों एक ही बात है। शक्ति भी तत्त्व है और परमात्मा भी तत्त्व।

ब्रह्मवाद में ब्रह्म की इच्छा प्रकृति है और शक्तिवाद में देवी की इच्छा प्रकृति अर्थात् शक्ति महेश्वर और ब्रह्म एक ही अर्थ के वाचक है, इनमें जो लिङ्ग भेद है और वह शब्दात्मक है वैसे परमार्थतः इनमे कोई भेद नहीं है।

या देवि सर्वभूतेषु लक्ष्मी रूपेण संस्थिता/ नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

स्रोत

[1]*विष्णु पुराण,* 6/7/61
[2]*दुर्गा सप्तशती*
[3]*दुर्गासप्तशती,* मूर्तिरहस्य - 1
[4]*शङ्करस्तोत्रमुक्तावलि*/अन्नपूर्णाष्टकम्/4
[5]*शङ्करस्तोत्रमुक्तावलि*—गङ्गाष्टक-2

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,62-64
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 05 मार्च 2016

विशिष्टान्तराघटितत्त्वविचारः

राजीवलोचन शर्मा*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *विशिष्टान्तराघटितत्त्वविचारः* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *जयप्रकाश मल्ल* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

दुःखपङ्कनिमग्नस्य प्राणिमात्रस्य उद्दिधीर्षया सर्वाणि दर्शनानि प्रवर्तितानि परमकारुणिकैः महर्षिभिः। तत्र च आन्वीक्षिकी परंपर्याया न्यायविद्या सर्वविद्यानां मूलस्तम्भः वेदप्रमाण्यरक्षाहेतुत्वात्। अत एव सर्वविद्यासु श्रेष्ठा इति सर्वै एकमत्येन स्वीक्रियते।

'प्रदीपः सर्वविद्यामानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।'[१]

न्यायदर्शनकृता परमाकारुणिकेन महर्षिगौतमेन प्रमाणादिशोडषपदार्थानां तत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुत्वमुक्तम्। तत्त्वज्ञानं हि वस्तूनाम् अविपरीततया ज्ञानम्। ''प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभा-सच्छलजातिनिग्रहस्थानानान्तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।''[२] यतो हि वस्तुनि विपरीतबुद्धौ समुत्थितायां साधकप्रमाणप्रस्ताव-मात्रेण वस्तुनः सम्यगुपपादनं न सम्भवतीति विपरीतकोटिनिराकरणार्थमपि उपायः चिन्तनीयः। तदुक्तमद्वैतसिद्धिकृता श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीमहाभागेन ''उपपादनञ्च स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां संभवति''[३] इति परपक्षनिराकरणं हि परोक्तहेतु-दोषोद्भावनद्वारा संभवतीति दोषाणामपि ज्ञानमपेक्षितम्। अन्यथा परोक्तहेतुदोषोद्भावनं न संभवति। तस्मात् दोषज्ञानमपि तत्त्वनिर्णयं प्रति कारणं भवति। तदुक्तं नव्यन्यायप्रवर्तकेन गङ्गेशोपाध्यायेन ''अथ हेत्वाभासास्तत्त्वनिर्णयविजय प्रयोजकत्वान्निरूप्यन्ते''[४] इति त्युत्पत्तेः। हेतुदोषाः एव हेत्वाभासाः 'हेतोराभासाः हेत्वाभासाः' इति व्युत्पत्तेः। 'हेतुवत आभासन्त इति हेत्वाभासाः इति व्युत्पत्या तादृश दोषवतां हेतुनामर्थात् दुष्टहेतूनामपि हेत्वाभासपदवाच्यता स्वीक्रियते। ते हि हेत्वाभासाः 'सत्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षा-सिद्धबाधभेदेन' पञ्चविधाः उक्ताः। येषामन्यतमस्यापि सद्भावेन हेतुः दुष्टः भवति। येन च सः विपरीत कोटिं साधयितुं न प्रभवति। एतेषां पञ्चानां हेत्वाभासानां प्रत्यकेशः लक्षणकरणात्प्राक् सर्वेषु पञ्चसुसाधारणं किमपि लक्षणं करणीयमितिधिया तत्त्वचिन्तामणिकारेण त्रीणिहेत्वाभाससामान्यत्नक्षणानि उक्तानि।

* शोध छात्र, वैदिकदर्शन विभाग, सं. वि. ध. वि. संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

१. ''अनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानविषयत्वम्।''[५]

२. ''यद्विषयकत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वम् तत्त्वम्।''[६]

३. ''ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यत् तत्त्वं वा हेत्वाभासत्वम्।''[७]

तेषु द्वितीयलक्षणं दीधितिगादाधरीभ्यामित्थं परिष्कृतमस्ति। अनाहार्याऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयवृत्तित्वविशिष्ट-यद्रूपावच्छिन्नविषयकनिश्चयत्वव्यापिका प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यता-निरूपितप्रतिबन्धकता तद्रूपावच्छिन्नत्वं हेत्वाभासत्वम्। अस्मिन् लक्षणे मेथत्वविशिष्टत्यभिचारे अतिव्याप्तिः। यद्रूपपदेन मेयत्वविशिष्टव्यभिचारत्वमुपादाय तद्विषयकनिश्चयः 'धूम्राभाववद्वृत्तिर्वह्निः प्रमेयः'' इत्याकारकनिश्चयः तादृशानिश्चयत्वव्यापिकायाः प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरुपित प्रतिबन्धकतायाः सत्वात् तद्रूपवत्वस्य मेयत्वविशिष्टव्यभिचारे सत्वादतिव्याप्तिः। अमुं दोषं समुपस्थाप्य दीधितिकारैः उक्तं ''विशेषणीयञ्च तादृशविशिष्टान्तराघटित त्वेनेति''[८] अर्थात् अस्मिन् लक्षणे विशिष्टान्तराघटितत्त्वं निवेशनीयम्। तच्च स्वावच्छिन्नाविषयक प्रतीतिविषयतावच्छेदकं यत् प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतानतिरिक्तवृत्ति-विषयतानिरूपकतावच्छेदकं तदवच्छिन्नाविषयकप्रतीतिविषयतावच्छेदकं यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नाविषयक प्रतीतिविषयतावच्छेदकत्वम्। तथा च स्वपदेन मेयत्वविशिष्ट व्यभिचारत्वं गृह्यते स्वावच्छिन्नाविषयक प्रतीतिविषयतावच्छेदकं शुद्धव्यभिचारत्वं तत्प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपित-प्रतिबन्धकतानतिरिक्तवृत्तिविषयतानिरूपकतावच्छेदकमप्यस्ति किन्तु तदवच्छिन्नाविषयक-प्रतीतिविषयतावच्छेदकत्वं मेयत्वविशिष्टव्यभिचारत्वे नास्ति, अतः यद्रूपपदेन तस्य उपादातुमशक्यत्वात् नातिव्याप्तिः। अत्र विशिष्टान्तरपदस्य अन्यद् विशिष्टं विशिष्टान्तरमित्यर्थः। अत्र चान्तरपदं न भिन्नपरम् अन्यथा 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति न्यायेन मेयत्वविशिष्टव्यभिचार शुद्धव्यभिचारयोः भेदाभावात् विशिष्टान्तरपदेन व्यभिचारस्य कर्तुमशक्यतया बाधादिकमादायमेयत्वविशिष्टव्यभिचारे अतिव्याप्तिः तदवस्था स्यात्। अतः स्वावच्छिन्नाविषयकप्रतीति-विषयतावच्छेदकावच्छिन्नत्वम् अन्तरपदस्यार्थः स्वीकरणीयः। एवञ्च मेयत्वविशिष्टव्यभिचारशुद्ध-व्यभिचारयोः ऐक्येऽपि मेयत्वविशिष्टव्यभिचारत्वावच्छिन्नाविषयकप्रतीति पदेन शुद्धव्यभिचारविषयक-प्रतीतः धारयितुं शक्यतया तादृशप्रतीतिविषयता-वच्छेदकत्वावच्छिन्नत्वं मेयत्वविशिष्टव्यभिचारे वर्तते इति विशिष्टान्तरपादेन शुद्धव्यभिचारस्य उपादातुं शक्यत्वात् नातिव्याप्तिः। अत एव तदघटितत्वमपि 'तदवच्छिन्नाविषयकप्रतीतिविषययतावच्छेदकत्वमेव' वक्तव्यम्।

अत्रेदमाक्षिप्यते मेयत्वविशिष्टव्यभिचारे अतिव्याप्तिवारणार्थं निरुक्तगुरुतरविशिष्टान्तराघटितत्व निवेशापेक्षया यद्रूपावच्छिन्न-विषयताशालिनिश्चये प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकत्वाव्यापक प्रतिबंधकताशून्येत्वमेव लाघवात् निवेश्यताम्। तेनैवमेयत्वविशिष्टव्यभिचारे अतिव्याप्तिवारणं संभवति। तथाहि प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धकता वह्नौ धूमव्याप्त्यवगाहि बुद्धित्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता तदव्यापिकाप्रतिबंधकतामेयत्वाभाववान् धूमव्यभिचारिवह्निः इत्याकारक बुद्धित्वावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता तच्छून्यत्वंमेयत्वविशिष्टव्यभिचारबुद्धौ नास्ति। तादृश बुद्धेः निरुक्तबुद्धिं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वात्। एतेन निवेशेन ह्रदोवह्निमानित्यत्र वहन्यभाववद्जलवद्वृत्तिजलवद्ह्रदेऽपि अतिव्याप्तिवारणं संभवति। तथाहि प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतापदेन ह्रदो वह्निमानित्यनुमितित्वव्यापक प्रतिबध्यतानिरूपिताज्ञानवैशिष्ट्यावच्छिन्ना प्रतिबन्धकतालभ्यते तदव्यापकप्रतिबन्धकता वह्नन्यभाववज्जलवन्निरूपित वृत्तित्वाभावज्जलम् इत्याकारकबुद्धित्वावच्छिन्न प्रतिबध्यतानिरुपिताप्रतिबन्धकतापि लभ्यते तच्छून्यत्वं वहन्यभाववज्जलन्निरुपित जलवद्ह्रदविषयक निश्चये नास्ति तन्निश्चयस्य निरुक्त वृत्तित्वाभाववत्ताबुद्धिं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वात् तथा चातिव्याप्त्यभावे तद्वारकविशिष्ट-द्वयाघटितत्वनिवेशनमपि नावश्यकम्।

एवमेव जातिमान् वहन्यभाववानिति ज्ञानमादायासंभववारणाय ग्रन्थकृतानिविष्टम् अव्यापक विषयिताशून्यत्वमपि

अनावश्यकम्। तथाहि प्रकृतानुमितित्वव्यापक प्रतिबध्यतानिरुपितप्रतिबन्धकता ह्रदो वह्निमानित्याकारक बुद्धित्वावच्छिन्न प्रतिबध्यतानिरुपित प्रतिबन्धकता तदव्यापकप्रतिबध्यता-निरुपितप्रतिबन्धकतापदेन जात्यभाववान् वहन्यभाववानित्याकारक बुद्धित्वावच्छिन्नप्रतिबध्यता-निरुपितप्रतिबन्धकता तच्छून्यत्वं जातिमान् वहन्यभाववानितिनिश्चये नास्ति। जात्यभाववान् वहन्यभाववानितिनिश्चियस्य प्रतिबन्धकत्वात् तथा च उक्तातित्रघुलक्षणेनैव सामञ्जस्ये विशिष्टान्तराघटितत्वविशिष्टद्वयाघटितत्व-अव्यापकविषययिताशून्यत्वानां लक्षणे प्रवेशो व्यर्थ:।

अत्रेत्थं समाधीयते यत् उपर्युक्तरीत्या लक्षणे कृते असम्भवस्यात् तथाहि ह्रदो वह्निमानित्यत्र बाधे न लक्षण सङ्गति:। तथा च प्रकृतानुमितित्वव्यापप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतापदेन व्यभिचारप्रतिबन्धकतामादाय तदव्यापकत्वस्य बाध-प्रतिबन्धकतायामपि सत्वात् तच्छून्यत्वस्य बाधनिश्चये अभावात् एवमेव व्यभिचारनिश्चयेपि प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकता पदेन बाधप्रतिबन्धकतामादाय तदव्यापकीभूत व्यभिचारप्रतिबन्धकताशून्यत्वस्य व्यभिचारनिश्चये अभावात् व्यभिचारेऽपि न लक्षण सङ्गति: इमं रीत्या सर्वत्रैव चालनीयन्यायेन अव्यापकप्रतिबन्धकताशून्य त्वस्यासत्वेन असम्भवस्यात्। तद्वारणाय यदि विशेष्यदलघटकप्रतिबन्धकताविशेषणदलघटित-प्रतिबन्धकतयो: ऐक्यं स्वीकृत्य प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपितयत् प्रतिबन्धकता यद्रूपावच्छिन्नविषयताशालिनिश्चयत्वव्यापक तत्प्रतिबन्धकता अव्यापक प्रतिबन्धकताशून्यत्वं यद्रूपावच्छिन्नविषय-ताशालिनिश्चये तद्रूपवत्वमिति लक्षणं क्रियते तदा उक्तदोष: वारयितुं शक्यते यतो हि बाधे लक्षणसमन्वयकाले विशेष्यदलघटकप्रतिबन्धकतापदेन बाघप्रतिबन्धकता लभ्यते तदव्यापिकाप्रतिबन्धकता व्यभिचारादिप्रतिबन्धकता तच्छून्यत्वं बाध निश्चय वर्तते इत्येवं रीत्यैव सर्वत्र लक्षणसमन्वय: संभवति। तथापि यत्तदो: अननुगतत्वेन अननुगमदोष: अस्मिन् लक्षणे दुर्निर्वायो भवति। अतएव ग्रन्थकारै: एतादृशरीतिं परित्यज्य विशिष्टान्तराघटितत्वादि विशेषणानां निवेश: कृत:।

सन्दर्भा:

[१] *कौटिल्य अर्थशास्त्र*

[२] *न्यायसूत्र*

[३] *अद्वैतसिद्धि:*

[४] *सामान्यनिरूपितप्रकरणम्,* पृष्ठ संख्या १

[५] *सामान्यनिरूपितप्रकरणम्,* पृष्ठ संख्या ११

[६] *सामान्यनिरूपितप्रकरणम्,* पृष्ठ संख्या ८७

[७] *सामान्यनिरूपितप्रकरणम्,* पृष्ठ संख्या २४५

[८] *सामान्यनिरूपितप्रकरणम्,* पृष्ठ संख्या १३३

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,65-67
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 26 अप्रैल 2016

"बृहत्कथा" संस्कृत लोककथा एवं उपजीव्यकथा के रूप में प्रस्तुत

अभिनीत कुमार श्रीवास्तव*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *"बृहत्कथा"* संस्कृत लोककथा एवं उपजीव्यकथा के रूप में प्रस्तुत शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *अभिनीत कुमार श्रीवास्तव* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

भारतीय कथा-साहित्य का विश्वसाहित्य में अत्यन्त आदरणीय स्थान रहा है। कुछ अंशों में भारतीय कथा-साहित्य विश्व-कथा-साहित्य का जनक कहा जा सकता है। कथा-साहित्य की रोचकता, सरलता, मधुरता, भावाभिव्यक्ति एवं उपदेशात्मकता ने विश्व के सभी विद्वानों से प्रशंसा प्राप्त की। इसमें भारतीय जीवन, विचार-धारा, कार्य-कलाप और नैतिकता की झांकी प्राप्त होती है। अधिकांश कथा-साहित्य में व्यक्ति-विशेष का नाम न रखकर पशु-पक्षी या अन्य जीव को उसके प्रतीक के रूप में रखा गया है। इसमें शेर, बिल्ली, चूहा, गीदड़, कौआ, कछुआ आदि नीति-शिक्षा, आचार-शिक्षा और कर्तव्योपदेश देते हैं। इसमें कहीं कुतूहलता हैं, कहीं विनोद है, कहीं हास और उल्लास है, कहीं छल प्रपंच है, कहीं प्रेम है तो कहीं विश्वासघात, कहीं धर्म है तो कहीं नीति, कहीं सदाचार है तो कहीं व्यवहारवान, कहीं भाव सौष्ठव है तो कहीं काव्य सौन्दर्य। इस वैविध्य के कारण सभी प्रकार की रुचि वाले व्यक्तियों के लिए कथा-साहित्य आकर्षक और मनोरंजक रहा है।

कथा साहित्य को चार भागों में बांटा जा सकता है:- अद्‌भुत कथा, लोक कथा, कल्पितकथा और पशु-कथा। व्यावहारिक दृष्टिकोण से संस्कृत कथा-साहित्य को दो भागों में बांटा जा सकता है:- 1. नीतिकथा और 2. लोककथा। लोककथा में ही अद्‌भुत-कथा और कल्पित-कथा का भी समावेश होता है। नीतिकथाओं और लोककथाओं में मुख्य अन्तर यह है कि नीतिकथाओं का उद्‌देश्य उपदेशात्मक होता है तथा इनके पात्र प्रायः जीव-जन्तु होते हैं, परन्तु लोककथाओं का उद्‌देश्य मुख्यतः मनोरंजन होता है।

इसके पात्र मनुष्य आदि होते हैं। इनमें श्रृंगार आदि रसों का परिपाक, भाषा की प्रौढ़ता तथा काव्य-सौन्दर्य आदि गुण भी मिलते हैं।

* शोध छात्र, वैदिकदर्शन विभाग, सं. वि. ध. वि. संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

लेखक एवं समय

लोककथा के रूप में गुणाढ्य-रचित बृहत्कथा सर्वश्रेष्ठ है। इसका सर्वप्रथम प्रामाणिक उल्लेख दण्डी[1], सुबन्धु और बाण (7 वीं शती ई0) ने किया है। कम्बोडिया के एक अभिलेख में गुणाढ्य का उल्लेख है।[2] अतः इनका समय 500 ई0 के बाद का नहीं है। नवीन अनुसन्धानों से बृहत्कथा का समय 78 ई0 निर्धारित हुआ है।[3] प्रो0 एफ0 लाकोत ने इसको रामायण एवं महाभारत के तुल्य महनीय निधि बताया है।[4] यह ग्रंथ मूलरूप में न मिलने से भारतीय साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई है। काश्मीरी संस्करणों में गुणाढ्य का संबंध सातवाहन राजाओं से बताया गया है। इन राजाओं ने संस्कृत के साथ प्राकृत भाषा की भी उन्नति की है। सातवाहन राजा हल (78 ई0) ने गाथासप्तशती की रचना की है। गुणाढ्य उसी राजा से संबंद्ध है, अतः 78 ई0 के लगभग इसका समय मानना उचित है।

बृहत्कथा के काश्मीरी रूपों से ज्ञात होता है कि गुणाढ्य की रचना श्लोकों में रही होगी। गुणाढ्य ने यह ग्रंथ पैशाची भाषा में लिखा था। यह वर्तमान समय में पश्चिमोत्तर पाकिस्तान में बोली जाने वाली पश्तो भाषा है। वहाँ के व्यक्ति मांसाहारी हैं, अतः उन्हें पिशाच कहा गया और उनकी भाषा पैशाची कही जाती थी। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसको काफिरिस्तान, गिलिट आदि में बोली जाने वाली भाषा माना है।[5]

बृहत्कथा को अत्यन्त रोचक ग्रंथ बताते हुए परवर्ती अनेक साहित्यकारों ने इसका सादर उल्लेख किया है। धनञ्जय (1000 ई0) ने दशरूपक (1-68) में, त्रिविक्रम भट्ट (915 ई0) ने नलचम्पू (भूमिका श्लोक 14) में, सोमदेव (965 ई0) ने यशस्तिलक-चम्पू में, गोवर्धनाचार्य (1200 ई0) ने आर्यासप्तशती में और सोडढ्ल ने उदयसुन्दरीकथा में गुणाढ्य की कथा को अद्भुत और रोमांचकारी बताया है।

बृहत्कथा का इतिहास

भूमिका में बताया गया है कि किस प्रकार गुणाढ्य ने 7 लाख श्लोकों वाली बृहत्कथा बनाकर सातवाहन राजा के पास भेजी और उसने उसे अस्वीकार किया। अत्यन्त दुःखित होकर गुणाढ्य ने एक कुण्ड बनाकर उसमें रो रोकर पढ़ते हुए एक-एक पन्ना जलाया। इस प्रकार 6 लाख श्लोक जला दिए। केवल नरवाहनदत्त के चरित वाला अंश, जो एक लाख श्लोकों में था, बचा लिया। वही कथा केवल शेष बची है। इसमे कौशाम्बी के राजा उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के पराक्रमों का वर्णन है। नरवाहनदत्त अपने एक मित्र गोमुख के साथ वन में गया। वहाँ उसने विद्यावर-राजकुमारी मदनमंजुका से विवाह कर लिया। मदनमंजुका को एक विद्यावर मानसवेग उड़ा ले गया। मानसवेग की बहिन वेगवती ने मदनमंजुका का पता लगाने में नरवाहनदत्त कर सहायता की। अन्त में वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ और विद्याधरों का राजा हो गया। इस मुख्य कथा में अनेक उपकथाएँ भी सम्मिलित हैं।

बृहत्कथा पर आश्रित ग्रंथ

बृहत्कथा अपने मूल रूप में अप्राप्य है। इस पर आधारित तीन ग्रंथ प्राप्त होते हैं। इनका कथन है कि ये ग्रंथ बृहत्कथा के ही संक्षेप और संस्कृत रूपान्तर हैं :

1) *बृहत्कथा-लोकसंग्रह;* नेपाल के बुधस्वामी (8वीं या 9वीं शती) इसके लेखक हैं। ग्रंथ के नाम से ज्ञात होता है कि मूलग्रंथ पद्य में था। इसमें 28 सर्गों में 4539 श्लोक हैं। यह ग्रंथ अपूर्ण प्राप्त होता है। इसके आकार से ज्ञात होता है कि मूलग्रंथ में 100 से अधिक सर्ग रहे होंगे और श्लोक संख्या 25 सहस्त्र के लगभग रही होगी। इसमें क्षेमेन्द्र और सोमदेव की कथा में भेद है। इसमें वर्णनों का अभाव है; प्राकृतरूपों का प्रयोग है, अतः यह मूल रूप के अधिक समीप है।

2) *क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी;* कश्मीर के राजा अनन्त (1029-1064 ई0) के आश्रित कवि क्षेमेन्द्र ने 1037 ई0 में बृहत्कथा का ही संक्षिप्त रूप बृहत्कथामंजरी लिखी है। इसमें 19 अध्यायों में 7500 श्लोक हैं। इसमें बुधस्वामी के ग्रंथ से कथाएं अधिक हैं। अतः ज्ञात होता है कि इसमें कश्मीर में प्रचलित कुछ कथाएं और जोड़ दी गई हैं। इसमें कथा अत्यन्त संक्षिप्त कर दी गई है।

3) सोमदेव-कृत कथासरित्सागर; कश्मीर के एक ब्राह्मण राम के पुत्र सोमदेव ने 1063 ई0 से 1081 ई0 के बीच इसकी रचना की थी। सोमदेव भी राजा अनन्त के आश्रित कवि थे और क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण और विश्व-विख्यात है। यथा नाम तथा गुणः के अनुसार यह वस्तुतः कथाओं का समुद्र है। इसमें 18 लंभकों में 124 तरंग हैं। इनमें कुल 21388 (लगभग 22 सहस्र) पद्य हैं। इनमें 761 पद्य कुछ क्लिष्ट रचना है। इसमें कथा की योजना और रस-परिपाक भी सुन्दर हुआ है। इसमें भी कश्मीरी कहानियाँ हैं। इसकी शैली रोचक और सरल है। यह उक्त दोनों ग्रंथों से अधिक उत्कृष्ट है। बृहत्कथा के दो तमिल संस्करण भी मिलते हैं।[6]

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने की मानवीय लालसा ने विभिन्न माध्यमों को जन्म दिया। लेखन, संगीत तथा विभिन्न प्रकार की कलाएँ इन्हीं माध्यमों में से थी। अपने मनभावों, विचारों तथा समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए लेखन कला एक सशक्त माध्यम के रूप में विकसित हुई। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक की यात्रा में भारतवर्ष तथा विश्व के अन्य देशों में ऐसे असंख्य लेखक हुए हैं, जिन्होंने अनेक विषयों को आधार बनाकर साहित्य रचना में अपना अमूल्य योगदान दिया है। इन्हीं में प्रमुख संस्कृत के साहित्यकार गुणाढ्य ने बृहत्कथा नामक लोककथा की रचना कर संस्कृत साहित्य में अपना महनीय योगदान दिया है, जिसका लाभ अनेक परवर्ती साहित्यकार लेते आ रहे हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

[1]*काव्यादर्श,* 1-38

[2]कीथ -*संस्कृत साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ संख्या 316

[3]*भारतीय वांगमय के अमररत्न,* पृष्ठ संख्या 40

[4]F. LACOTE; *Essai sur Gunaadhya et la Brhatkatha* (1908)

[5]कीथ -*संस्कृत साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ संख्या 320

[6]*सोमसुन्दर देसिकर का कृश्णस्वामी आयंगर-स्मृतिग्रंथ में;* Tamil Versions of Brihatkatha लेख

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,68-72
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 29 अप्रैल 2016

"रामायण में वर्णित स्त्रियों की स्थिति : एक सांस्कृतिक अध्ययन"

डॉ. त्रिलोकीनाथ मिश्र*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *"रामायण में वर्णित स्त्रियों की स्थिति : एक सांस्कृतिक अध्ययन"* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *त्रिलोकीनाथ मिश्र* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

भारतीय संस्कृति किसी ऐसे समुद्र की अनवरत् धारा की तरह है, जिसमें हजारों नदियाँ सदियों से समाती रही हैं। संस्कृतियों की एक ऐसी धारा जिसका गुण धर्म हमेशा से सबको समाहित करने वाला रहा है। भारत की संस्कृति का वहन कभी किसी खास जाति या नस्ल ने नहीं किया। जातियाँ आयीं, पहले से बसी जातियों से उनका आमना-सामना हुआ, युद्ध हुए, समन्वय हुए, व्यवस्थायें बदलीं, समाज की गतिशीलता ने पुरानी संस्कृति में जो जीर्ण था, उसको पीछे छोड़कर एक नई संस्कृति का निर्माण किया। मूल रूप से भारत का सांस्कृतिक इतिहास इसी ढ़र्रे पर आगे बढ़ता रहा है। इतिहासकारों का मानना है कि बिना वर्ग संघर्ष के किसी भी सभ्यता संस्कृति का विकास सम्भव नहीं है। भारतीय संस्कृति का क्रमिक विकास भी कई तरह के वर्ग संघर्षों का ही परिणाम है। भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति का ऊँचा-नीचा ग्राफ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

किसी भी समाज के सांस्कृतिक मूल्यांकन का कार्य तब तक अपूर्ण माना जाता है, जब तक कि सामाजिक व्यवस्था की मेरूदण्ड स्त्रियों के सामाजिक स्तर का अध्ययन न किया जाय। समाज अपने इस वर्ग के प्रति जैसा भी दृष्टिकोण रखता है उसका सामाजिक आधार उसी प्रकार दिशा पाता है। भारतीय समाज में स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण जहाँ कभी एकदम सम्मानजनक थे तो वहीं परवर्ती साहित्य में कतिपय अपमानजनक टिप्पणियाँ भी उल्लिखित मिलती हैं।

हिन्दू सभ्यता में प्रारम्भिक काल से ही स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। भारत की प्राचीनतम् सैन्धव सभ्यता के धर्म में माता देवी को सर्वोच्च पद प्रदान करना उनके समाज में उन्नत दशा का सूचक माना जाता है।[1] वैदिक काल के प्रारम्भ में जहाँ स्त्रियों के सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक, आर्थिक सभी अधिकार पुरुषों के समान थें, वहीं उत्तर वैदिक काल के अन्त तक कन्या का जन्म चिन्ता का विषय माना जाने लगा था। सूत्रकाल में वर्ण व्यवस्था में जो कट्टरता आयी उसका स्पष्ट प्रभाव स्त्रियों की स्थिति पर पड़ा। अब स्त्रियाँ अपने सभी अधिकारों से वंचित हो गयी, यहाँ तक कि उनका जन्म भी अशुभ एवं दुःखदाई माना जाने लगा।

* प्रधानाचार्य, सिद्धेश्वर उ. मा. विद्यालय [गोपालपुर] फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित,सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

सृष्टि में नारी का प्रारम्भ उसके कन्यात्व रूप से शुरू होता है। कन्या के रूप में स्त्री प्रारम्भिक काल से ही सम्मानीय है। रामायण काल में कन्या का जन्म वर्तमान की भाँति अवांछनीय नहीं माना जाता था, अपितु उन्हें कन्या रत्न मानकर उनका लालन-पालन किया जाता था। सीता को पाकर जनक अत्यन्त प्रसन्न हुए उनकी बड़ी रानी ने सच्चे स्नेह से उसे पाला-पोसा। उत्तरकाण्ड में सुमालि द्वारा कन्या जन्म को कष्टकारी बताना, विषादजन्य नहीं था, अपितु कन्या के भावी जीवन को सुखी बनाने के उद्देश्य से पितृजन्य चिन्तित हो जाया करते थे। समाज में कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। कुशनाभ कन्याएँ व्यवहारिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा, संगीत शास्त्र आदि में निष्णात थीं। राजकुमारी सीता को राजधर्म नारी धर्म, लोक-परलोक आदि विषयो का सम्यक ज्ञान था, जिसे उन्होंने बचपन में ही माता-पिता से प्राप्त करने की बात स्वीकार की।[2] देवासुर संग्राम में कैकेयी द्वारा दशरथ की मदद करना कन्याओं के सैन्य शिक्षा दिए जाने का संकेत है। लंका में भी सीता की पहरेदारी करने वाली राक्षसियाँ शस्त्र धारण करती थीं।

मांगलिक अवसरों पर कन्याओं की उपस्थिति एवं दर्शन शुभ माना जाता था, इसीलिए घरों, महलों आदि में उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर सम्पूर्ण तैयारी के साथ आठ सुन्दर कन्यायें भी उपस्थित थी। इसी प्रकार जब राम वन से लौटकर अयोध्या आये तो सर्वप्रथम कुमारी कन्याओं ने ही उनका स्वागत किया।

विवाह में कन्यायें स्वतन्त्र न थीं अपितु पितृवश ही रहती थी। य़द्यपि स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु कन्यायें मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती थी। कुमारियों के विवाह पितृ वर्ग के लिए अभिशाप न थे, क्योंकि आधुनिक ''दहेज प्रथा'' का प्रचलन नहीं था। वर पक्ष की ओर से किसी माँग का प्रस्ताव नहीं होता था, हाँ कन्यादान के समय कन्या धन अवश्य दिया जाता था। बाल विवाह का प्रचलन नहीं था, क्योंकि सीता विवाह के समय समुपस्थित यौवना थी।[3]

नारी के ''युवती रूप'' का तो रामायण में परम् विकास ही दर्शाया गया है, जिसकी प्रशंसा भारतीयों ने ही नहीं अपितु विदेशियों ने भी की है। मिस मेरी स्कॉट का कथन है- ''रामायण में स्त्रीत्व का वह मधुरतम् आदर्श छिपा है जिसका मैंने पहले कभी अध्ययन नहीं किया था।''[13] स्त्री रूप में सर्वप्रथम वह ''वधू'' का पद प्राप्त कर पति गृह में आती थी, जहाँ प्रारम्भ में वह अजनबी रहती है, किन्तु पारिवारिक सदस्यों के स्नेहासिक्त व्यवहार से वह सबके साथ मिल जाती है। दशरथ तथा उनकी रानियों का अपनी पुत्र वधुओं के साथ हार्दिक एवं निश्छल स्नेह था। पत्नी के रूप में वह सदैव पति के वश में ही रहती थी, क्योंकि इस लोक में तथा दूसरे लोक में नारी की गति उसका पति ही होता है। जब कौशल्या राम के साथ वन जाने को तैयार हो जाती हैं तो राम उनको स्त्री धर्म की शिक्षा देते हुए कहते हैं- ''पति सेवा ही नारी का सच्चा धर्म है, उसका परित्याग नारी के लिए क्रूरतापूर्ण कार्य है। अतः तुम्हे ऐसी बात मन में नहीं लानी चाहिए। पत्नी को पति की प्रत्येक परिस्थिति में मदद करनी चाहिए। अनुसूया ने सीता को समझाते हुए कहा था- पति चाहे अपने पास रहे या विदेश में, बुरा हो या भला, लेकिन जिन स्त्रियों के वे प्रिय होते हैं उन्हें मरने के बाद दिव्य लोक की प्राप्ति होती है। स्त्रियों के अधर्म एवं अनुचित कार्य में लिप्त होने पर उन्हें दण्डित भी किया जाता था। महर्षि गौतम ने अहिल्या को इन्द्र के साथ अनैतिक सम्भोग के कारण परित्यक्त किया था।[4] इसी प्रकार राजा दशरथ ने कैकेयी का, कैकय नरेश के कैकेयी की माँ का परित्याग उनके कपटपूर्ण एवं अनुचित व्यवहार के कारण किया था।

रामायण युग में स्त्रियों का वध करना अनैतिक एवं निन्दनीय कर्म माना जाता था। मन्थरा के कुकर्मों से क्रुद्ध शुत्रघ्न को समझाते हुए भरत कहते हैं कि स्त्रियाँ सबके लिए अवध्य हैं, अतः इसे क्षमा कर दो। किन्तु इसके विपरीत सर्वजन का अहित करने वाली स्त्रियों के मारने से पाप न लगने की बात भी कही गयी है। विश्वामित्र राम से ताड़का का वध करने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं- ''हे! राघव इस दुराचारिणी, अतिभीषण, दुष्टानारी का गो-ब्राह्मणों के लिए कल्याणार्थ वध कीजिए, क्योंकि चातुर्वण्य के कल्याणार्थ राजपुत्र को सभी आवश्यक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

नैतिक दृष्टि से रामायण कालीन समाज उच्छृंखल दिखाई पड़ता है। सुन्दर आकर्षण कन्याओं एवं विवाहित स्त्रियों का अपहरण या उनके साथ बलात्कार जैसे अनैतिक कार्य प्रारम्भ हो गये थे, किन्तु यह प्रवृत्ति अधिकांशतः निम्न वर्ग के जातियों में विशेष रूप से राक्षस जातियों में अधिक दिखाई पड़ती है। रावण अपनी दिग्विजय के मध्य हिमालय के वन में देववती के साथ बलात्कार करता है। इसी प्रकार रावण द्वारा अपनी पुत्रवधू रम्भा के साथ बलात्कार किया गया। इस प्रकार स्त्री रूप में नारी की स्थिति में ह्रास दृष्टिगोचर होता है।

नारी के जीवन का सबसे उज्जवल एवं प्रशंसनीय रूप मातृत्व का माना गया है। माता रूप में स्त्री का महत्व पत्नी से भी बढ़कर था, क्योंकि इससे वंश प्रवर्तन होता है, ऋणों से मुक्ति मिलती है तथा मोक्ष प्राप्ति भी संभव होता है। मातृत्व सुख एवं वंश परम्परा को श्रेष्ठ बनाने की इच्छा से तत्कालीन समाज में मर्त्य कुमारिकायें अमर्त्य देवों से सम्पर्क स्थापित कर लेती थी। राक्षस सुमाली अपनी पुत्री कैकसी को पुलत्स्य मुनि के पास तेजस्वी पुत्र हेतु भेजता है। इसी प्रकार गंधर्वी सोमदा ने चूली ऋषि को अपनी सेवा से प्रसन्न कर तेज से युक्त पुत्र रत्न की याचना की थी। तत्कालीन समाज में इन पुत्रों एवं माताओं को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सोमदा के पुत्र ब्रह्मादत्त महराज कुशानाभ की कन्याओं के योग्य समझे गए, जबकि इन्द्र के साथ व्यभिचार करने वाली अहिल्या के पुत्र शतानन्द महराज जनक के पुरोहित बन गए। इसके विपरीत जो स्त्रियाँ वंश वृद्धि करने में असमर्थ होती थी उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय एवं विषादजन्य होती थी। निःसन्तान होने का दुःख उसे निरन्तर सालता रहता है।[5]

स्त्री के लिए वैधव्य जीवन अत्यन्त कष्टकारी होता है, किन्तु रामायण काल में विधवा स्त्रियां उपेक्षित न थी। दशरथ की विधवा स्त्रियों ने अपना शेष जीवन अपने परिवार के साथ सम्मान पूर्वक व्यतीत किया। अपनी विधवा बहिन सूपर्णखा की सम्मान रक्षा हेतु रावण ने राम से वैर मोल लिया। मांगलिक अवसर पर भी इनकी उपस्थिति अशुभ नहीं मानी जाती थी। राम के वन से लौटने पर उनका स्वागत विधवा माताओं ने ही किया था। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर सीता का श्रृंगार उनकी विधवा सासों ने ही किया था।[6]

रामायणकालीन समाज में विधवा पुनर्विवाह होने का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह प्रथा अनार्य जातियों में ही प्रचलित दिखाई पड़ती है। रावण की बहिन सूपर्णखा अपने वैधव्य जीवन में ही कामासक्त हो श्रीराम से पुनर्विवाह की इच्छुक थी। स्वयं रावण अपने विरोधियों को माकर उनकी विधवाओं को अपने अन्तःपुर में रखता था। वानर परिवार में भी इस प्रथा के प्रचलन का आभास होता था। बालि की मृत्यु के बाद तारा सुग्रीव की भार्या बनकर रहने लगती हैं। अनार्यों में यह प्रथा निश्चित रूप से प्रचलित रही होगी, नहीं तो जिस राम ने परस्त्री पर अधिकार करने के कारण बालि का वध किया वहीं सुग्रीव द्वारा तारा को अपनाने का विरोध क्यों न करते? आर्यों में पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था किन्तु अरण्यकाण्ड के उस विवरण से जिसमें सीता के बार-बार कहने पर भी जब लक्ष्मण राम के सहायतार्थ नहीं जाते तो सीता लक्ष्मण पर आपेक्ष लगाती हैं कि तुम चाहते हो कि राम मर जाय और मैं तुम्हारी हो जाऊँ के आधार पर जर्मन विद्वान जे0जे0 मेयर इनके प्रचलन का संकेत करते हैं, किन्तु उनका यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता,[7] क्योंकि लंका युद्ध में सीता ने राम को दो बार मरा हुआ जानकर विलाप किया, किन्तु देवर द्वारा ग्रहण किए जाने की संभावना नहीं व्यक्त की। इसलिए अरण्यकाण्ड की उस उक्ति को आवेश में आकर स्त्रियोचित अनर्गल प्रलाप से अधिक महत्व देना ठीक नहीं है।

नारी के इन दिव्य रूपों के साथ गणिका रूप में भी होने का प्रचलन था, किन्तु ये गणिकायें वर्तमान की भाँति निन्दनीय नहीं थीं, क्योंकि ये केवल अपने रूप सौन्दर्य के माध्यम से समाज का स्वस्थ मनोरंजन करती थीं। ये प्रत्येक सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों में राजन्य वर्ग का सहयोग करती थी। महराज दशरथ के अश्वमेघ के अवसर पर सभी वर्ग के लोगों के साथ गणिकाएं भी उपस्थित थीं। राम के वन जाते समय राजा दशरथ अन्य लोगों के साथ गणिकाओं को भी जाने की आज्ञा देते हैं।

रामायण कालीन नारी को मात्र कर्तव्यों का ही पालन नहीं करना पड़ता था, अपितु उनके अपने अधिकार भी थे। यथा- भरण पोषण का अधिकार, धार्मिक अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, वैवाहिक अधिकार, सामाजिक अधिकार आदि।

स्त्री का सबसे बड़ा अधिकार और पति का सबसे बड़ा कर्तव्य उसके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करना था। पत्नी का संरक्षण करना, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना, उससे स्नेह एवं प्रीतिपूर्ण व्यवहार रखना, कामोपभोग से उसे परितुष्ट रखना पुरुष का नैतिक कर्तव्य था। चित्रकूट में राम ने भरत से पूछा था कि क्या तुम अपनी पत्नी को संतुष्ट रखते हो? क्या वे तुम्हारे द्वारा भली-भाँति सुरक्षित है। जो पति अपनी पत्नी के आश्रित रहता है वह निन्दनीय होता है। सीता ने भर्त्सनापूर्वक उन नटों का उल्लेख किया है जो अपनी स्त्रियों के द्वारा कमाए गए धन पर जीवन निर्वाह करते थे।[8]

रामायण के प्रायः सभी पात्र धार्मिक हैं। उस समय उन्हें पूजा-आराधना एवं तपस्या का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। समाज में कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी थी, जिन्होंने अपना पूरा जीवन आध्यात्मिक चिन्तन में व्यतीत कर दिया। स्वयंप्रभा, वेदवती, शबरी आदि तपस्विनी स्त्रियों ने पुरुषों की भाँति चीर कृष्णाजिन धारण का आजीवन तपोमय जीवन व्यतीत किया।

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का स्पष्ट उल्लेख तो रामायण से प्राप्त नहीं होता, किन्तु राजा या अन्य व्यक्तियों द्वारा प्राप्त उपहार पर उनकी स्त्रियों का पूरा अधिकार होता था। अपने राज्याभिषेक के अवसर पर राम ने सीता को उत्तम मणियों से युक्त एक माला दी थी, जिसे सीता ने हनुमान को उनकी सेवा के बदले अर्पित किया था। कौशल्या को अपने आश्रितों का पालन करने के लिए एक हजार गॉव मिले थे। पति के देहावसान के बाद भी पत्नी का पति की सम्पत्ति पर अधिकार सुरक्षित रहता था, तभी तो पुष्पक विमान से अयोध्या आने वाली वानर रमणियाँ दशरथ पत्नियों की समृद्धि को देखने को उत्सुक थी।

नारी के वैवाहिक अधिकारों की सुरक्षा के अन्तर्गत यह विधान था कि पति ऋतुकाल में अपनी पत्नी का सहवास अवश्य करे। भरत ने उस दुष्टात्मा की तीव्र भर्त्सना की है जो ऋतुस्नाता, गर्भाधारण के अनुकूल अपनी भार्या को उसके अधिकारों से वंचित रखता है। समस्त धार्मिक क्रियाओं में पत्नी पति के साथ सहयोग करती थी। यज्ञानुष्ठान में पत्नी के बिना दीक्षा लेना संभव न था। राम के अश्वमेघ यज्ञ में दीक्षा लेते समय सीता की स्वर्णमयी मूर्ति बनायी गयी थी। विधवा स्त्री को अपने स्वर्गीय पति की और्ध्वदैहिक क्रिया में योग देने का अधिकार था। कौशल्या आदि रानियों ने दशरथ की प्रज्जवलित चिता की प्रदक्षिणा की थी। बालि की शमशान यात्रा में उसकी पत्नियाँ सम्मिलित थीं।

राजनतिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ पीछे नहीं थीं। आर्ष कवि ने उनके प्रशासनिक क्षमता का भी उल्लेख किया है। रावण द्वारा सीता का लंका के राज्य पर अभिषेक कराने का प्रस्ताव तथा महर्षि वशिष्ठ द्वारा राम की अनुपस्थिति में अयोध्या का राजसत्ता पर प्रतिनिधि रूप में सीता का अभिषेक कराने का सुझाव सर्वथा व्यवहार्य एवं समीचीन रहा होगा।[9] अन्यथा महर्षि वशिष्ठ जैसे जानकार व्यक्ति ऐसा प्रस्ताव क्यों करते?

सामाजिक जीवन में पर्दा प्रथा का प्रचलन था। जब सीता राम के साथ वन को प्रस्थान करती हैं तो अयोध्यावासियों का यह कथन कि जिनको पहले आकाश में विचरण करने वाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उन्हीं सीता को आज सड़कों पर खड़े लोग देख रहें हैं, से सूचित होता है कि राज परिवार की स्त्रियाँ महलों से बाहर नहीं निकलती थी। किन्तु विशेष परिस्थितियों में यह मर्यादा तोड़ी भी जाती थी। युद्ध काण्ड में राम कहते हैं कि ''विपत्ति काल में तथा युद्धों, स्वयम्बरों, यज्ञों एवं विवाहों के अवसर पर स्त्रियों को देखना दोषावह नहीं है।''[10] वानर परिवार में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं दिखाई देता, किन्तु राक्षस परिवार में यह प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। इसकी पुष्टि मंदोदरी के उस कथन से होता है, जब रावण की मृत्यु के पश्चात् वह अन्य भार्याओं के साथ युद्ध स्थल पर आकर विलाप करते हुए कहती है- ''देखिये नाथ हम सब पर्दा त्याग कर पैदल ही आपके पास हैं आप क्रुद्ध क्यों नहीं होते? इसी कारण लंका विजय के पश्चात् विभीषण सीता को एक सुन्दर पालकी में बैठाकर लाये। राम के समीप पहुँचने पर सभी व्यक्तियों को बाहर हटने का आदेश दिया, किन्तु यहाँ भी राम इसका विरोध कतरे हुए कहते हैं कि यहाँ जितने लोग हैं, सब मेरे स्वजन ही तो हैं, स्त्रियों के लिए न घर, न वस्त्र, न दीवार और न राज सत्कार ही आड़ करने वाला है जितना कि उनका अपना व्यक्तिगत आचरण। इसी प्रकार अयोध्यावासी अपनी पत्नियों की ओर से सर्वथा निश्चिंत होकर राम के साथ वन जाने को तैयार हो गये थे, क्योंकि उनकी यह मान्यता थी कि हमारी स्त्रियाँ चरित्र बल से पूर्णतयाः सुरक्षित रहेंगी।[11] इससे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में पर्दा करने की अपेक्षा उत्तम चरित्र बल को अधिक महत्व दिया जाता था।

रामायण काल में सती प्रथा सर्वथा अनहोनी बात नहीं थी, किन्तु इसका प्रचलन समाज में नहीं था। विधवाओं द्वारा पति शोक में प्राण त्यागने की बात का उल्लेख तो है, किन्तु वास्तविक रूप में ऐसी कोई घटना घटित नहीं हुई। बालि की मृत्यु पर तारा अन्न-जल छोड़कर प्राण त्याग का निश्चय करती हैं और सीता भी राम की कथित मृत्यु पर पति का अनुगमन करती हैं। किन्तु ये उक्तियाँ पतिशोक की अभिव्यक्ति मात्र हैं, प्राण त्याग का दृढ़ निश्चय नहीं। अपवाद स्वरूप उत्तरकाण्ड में कुशध्वज की पत्नी का पति के साथ सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु रामायण के प्रक्षिप्त अंश उत्तरकाण्ड में पाये जाने के कारण इसकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है। हो सकता है कि उत्तरकाण्ड के समय तक सती प्रथा का प्रचलन हो गया हो।

इस प्रकार रामायण में निर्दिष्ट विविध प्रकार की नारी विषयक सामग्री के समुचित मूल्यांकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुल मिलाकर रामायण कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति सुखद थी। कम से कम तत्कालीन परिस्थिति में नारी को एक कन्या, पत्नी, माता एवं विधवा आदि के रूप में समस्त संभव सुविधायें और अधिकार प्राप्त थे और इसके सहारे वह परिवार, समाज के सांस्कृतिक उत्थान में अमूल्य योगदान कर रही थीं।

सन्दर्भ

[1]मैके -*फर्दर एक्सकेवेसन्स एट मोहनजोदड़ो,* पृष्ठ संख्या 591
[2]वही, 2/27/10
[3]जायसवाल, डॉ0 मंजुला- रा0यु0भा0, पृष्ठ संख्या 293
[4]वही, 1/48/9
[5]रामा0, 6/48/21
[6]वही, 6/127/16-17
[7]मेयर,जे0जे0 -*सेक्चुअल लाइफ इन ऐन्श्यंट इण्डिया,* भाग-2, पृष्ठ संख्या 436
[8]वही, 2/30/8
[9]रामा0, 2/37/23-24
[10]वही, 6/114/28
[11]रामा0, 2/45/25

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2016) 10,73-78
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 23 अप्रैल 2016

भारतीय रसोईं की वैज्ञानिक अवधारणा

डॉ. अर्चना तिवारी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *भारतीय रसोईं की वैज्ञानिक अवधारणा* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *अर्चना तिवारी* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

मनुष्य के पोषण, विकास, स्वास्थ्य, उसकी मानसिक अवस्था, संतुष्टि, जीवनप्रक्रिया, कार्यशैली, सोच, समझ के विकास और आरोग्य की समस्त अवधारणा ग्रहण किये जाने वाले भोजन पर ही निर्भर होती है। प्रकार का भोजन ग्रहण करता है उसी के अनुरूप उसका विकास भी होता है। प्राचीन भारतीय जीवन शैली के अधिष्ठाता हमारे ऋषि मुनि और समाज संचालक जीवन में भोजन की महत्ता, शुद्धता और वैज्ञानिकता को ठीक से जानते थे। अच्छी प्रकार से अध्ययन और विवेचन के उपरान्त उन्होंने जन सामान्य को भोजन के निर्माण की क्रिया विधि उपलब्ध कराई थी जिस से स्वस्थ, समुन्नत, सुखी, मेधायुक्त पीढ़ी का निर्माण हो और सृष्टि आगे बढ़े। हजारों वर्षों तक उन विडियो का पालन लोक में होता रहा लेकिन सभ्यताओं के विकास की यात्रा में बहुत सी प्रक्रियाओं, मान्यताओं और वीडियो का लोप होता गया। सृष्टि की विकास यात्रा तो बढ़ती रही लेकिन लोक जीवन से ऐसे अनगिनत वैज्ञानिक पहलु गायब होते गये जो हमारे लिये थे तो अतिमहत्वपूर्ण लेकिन हम उनकी महत्ता समझ ही नहीं पाये। इसीलिये जब और सभ्यता में पहुँचने के बाद जब जीयें कि क्रिया विधि को समझने का अवसर मिला तो अपनी प्राचीन परम्परागत वैज्ञानिक उपलब्धियों की तलाश की आवश्यकता आ पड़ी। विश्व इतिहास में सभ्यता के देश के रूप स्थापित प्राचीन भारतीय जीवन शैली में भोजन उसे निर्मित करने की प्रक्रिया और उसके विज्ञान को नये सिरे से विवेचित करने की जरूरत शिद्दत से महसूस की जाने लगी है।

* अध्यक्ष, गृह-विज्ञान विभाग, गंगोत्रि देवी महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक 2016, एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

केवल भोजन नहीं, सम्पूर्ण संस्कृति

भारत में भोजन के सम्पूर्ण संस्कृति के रूप में ग्रहण करने की परम्परा है। इसके लिये काफी समृद्ध एवं सुव्यवस्थित विज्ञान भी बनाया गया है। भोजन को उसको ग्रहण किये एक ऐसे विधान की रचना की गई है जिसको अब तक विस्तृत रूप से समझा नहीं जा सका है।

भारतीय संस्कृति में भोजन और उसके निर्मिति से लेकर अन्तः स्त्रवन तक की प्रक्रिया को बहुत ही महत्वदिया गया है। आधुनिक विज्ञान ने जिन रासायनिक क्रियाओं, अभिक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को अभी हाल के वर्षों में खोजा है उनसे बहुत ज्यादा जानकारी भारतीय वाङ्मय में पहलें से ही दर्ज है। भारत की प्राचीन संस्कृति में भोजन को विशुद्ध रासायनिक प्रक्रिया के रूप में ही देखा गया है। इसीलिये भारतीय किचन को रसोईं घर की संज्ञा दी गयी है। रसोईं का सीधा अर्थ यह है कि वह स्थान जहाँ से रसो की निष्पत्ति होती है। आधुनिक विज्ञान हमें अब यह जानकारी दे रहा है कि भोजन के अवयव और उसके निर्माण की प्रक्रिया के वैज्ञानिक पहलू क्या है लेकिन प्राचीन भारत में इस बारे में लगभग प्रत्येक ग्रंथ में पूर्ण रासायनिक प्रक्रियाओं के साथी भोजन का महत्व बताया गया है।

भोजन की आवश्यकता ही क्यों

किसी भी प्राणी को जीवित रहने और विकसित होने के लिये भोजन जरूरी है। यहाँ तक की पेड़-पौधों को भी, जो कि अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। यह सभी को विदित है कि पौधे अपना भोजन पानी और सूर्य के प्रकाश से बनाते हैं जिसे फोटोसिंथेसिस के रूप में आधुनिक विज्ञान ने निरूपित किया है। इस फोटोसिंथेसिस में ही पौधे अपने पोषण के अनुरूप खनिज, जल और क्लोरोफिल के साथ अपने लिये भोजन बना लेते हैं। जीव-जगत के अन्य सभी प्राणी भी पोषण करते हैं। सभी को भोजन की आवश्यकता होती है। भोजन से ही हर प्राणी को उसके शारीरिक विकास के लिये आवश्यक पदार्थ प्राप्त होते हैं। मनुष्य को भी भोजन की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपने भोजन में कुछ भी ग्रहण करता है उसी से अवशोषित होकर आवश्यकतत्त्व उसके शरीर का पोषण करते हैं। भारतीय अवधारणा इस विंदु पर ज्यादा बल डालती है कि मनुष्य जो भोजन सामग्री प्रयोग में ला रहा है उससे उसके शरीर को किस प्रकार और कैसे पोषक तत्त्व मिल रहे हैं। प्राचीन भारतीय भोजन प्रणाली कहती है कि भोजन के निर्माण से लेकर उसके शरीर के भीतर अवशोषित होने तक की पूरी प्रक्रिया विशुद्ध रासायनिक प्रणाली है। इसमें भोज्य सामग्री के साथ-साथ भोजन के निर्माण में प्रयुक्त होने वाला बर्तन, चूल्हे की अग्नि, स्थान, दिशा, समय और भोजन निर्माण करने वाले व्यक्ति की मानसिक दशा का भी काफी महत्व बताया गया है। प्राचीन भारतीय सिद्धान्त का प्रत्पादन है कि जिस प्रकार से आज अत्यन्त महत्वपूर्ण औषधियों के निर्माण के लिये अत्यन्त शुद्ध वातावरण वाले लैब स्थपित है उसी प्रकार हमारी रसोईं की भी शुद्धता आवश्यक होती है।

रसों की निष्पत्ति और रसोईं

प्राचीन भारतीय भोजन सिद्धान्त को कालान्तर में हमारी जीवन शैली से यह कहकर विसराने की कोशिश हुई कि इसमें आडम्बर और पोंगापंथ ज्यादा है। भोजन बनाने से लेकर परोसने तक के लिये जो भारतीय नियम बने थे हमने उनको या तो धार्मिक अथवा आडम्बर वाना मानकर छोड़ दिया। उदाहरण के लिये बिना स्नान किये रसोईं घर में प्रवेश वर्जित, बिना स्नान किये भोजन का निर्माण करने पर प्रतिबन्ध, बिना दिशा सही कि ये अग्नि का प्रज्ज्वलन नहीं, चूल्हे के द्वारा दिशा, भोजन निर्माण में प्रयुक्त होने वाले बर्तनों की धातु विशिष्टता, कच्चे भोजन के स्थानांतरण पर प्रतिबन्ध, भोजन में केवल शाकाहार की अनुमति, बिना प्रकाश की उपस्थिति में भोजन निर्माण और उसके ग्रहण करने पर प्रतिबन्ध आदि। अब यदि हम इन बिन्दुओं का आधुनिक विज्ञान के नजरिए से विवेचन करते हैं तो यह पाते हैं कि भोजन को लेकर जिस शुद्धता और कड़े नियमों का नियमन हमारी प्राचीन संस्कृति में किया गया था वह विशुद्ध वैज्ञानिक

था। जिस भोजन पर ही मनुष्य के पोषण विकास और उसकी पूरी कार्य प्रणालिनी भर है उस अतिशय सतर्कता तो होनी चाहिये। अब वैज्ञानिक विवेचन इस बात को पर्याप्त आधार देता है कि रसोईं जैसी जगह पर प्रवेश से पूर्वव्यक्ति को बिलकुल साफ सुथरा तो होना ही चाहिये। रसोई घर सर्वाधिक शुद्धता तो अत्यन्त आवश्यक है। आप कल्पना कीजिये की आप के पानी के गिलास में एक कोई धूल कण भी पदजय तो आप उसे नहीं पीते, तो यह तो अत्यन्त उचित है कि जहाँ पूरे परिवार का भोजन निर्मित हो रहा है उस स्थान को अत्यन्त साफ सुथरा और शुद्ध होना चाहिये। किस बर्तन में भोजन निर्मित हो रहा है उसका भी नियमन बहुत जरूरी होता है, क्योंकि हर धातु के बर्तन में हर प्रकार की खाद्य सामग्री नहीं रखी जा सकती। जिस बात को आज का विज्ञान हमें नये शोधों के बाद बता रहा है कि खाने-पीने में किन वस्तुओं, पदार्थों का कितना प्रयोग करना चाहिये और किन को निषिद्ध करना चाहिये वह तथ्य हमारी प्राचीन और यहाँ तक की लोक विरासत में भी प्रपंच में रहा है।

यह वास्तव में एक सिद्ध वैज्ञानिक पहलू है कि भोजन के निर्माण से लेकर उसको ग्रहण करने, पचने, और शरीर को विकसित करने की सभी स्थिति विशुद्ध रासायनिक प्रक्रियायें है। हम अन्न ग्रहण करते हैं। वह मुंह में पहुंचते ही हजारों प्रकार की रासायनिक क्रियाओं, अभिक्रियाओं, प्रतिक्रियाओं से होता हुआ हमारे शरीर में रक्त, मज्जा, मांस, अस्थि और वायु के रूप में परिवर्तित होता है। उसी से शरीर के भौतिक विकास के साथ ही मानसिक अवस्था का विकास होता है। इसी भोजन के बल से हम हर प्रकार के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक काय सम्पन्न करते हैं, इसीलिये भारत में भोजन को रसोईं के रूप में मान्यता दी गयी है। यहाँ कही भी पकाने की नहीं बल्कि बनाने की बात की जाती है।

कच्चा भोजन स्थानान्तरित पर प्रतिबंध

हमारी प्राचीन लोक परम्परा में स्पष्ट निर्देश है कि कभी भी कच्चा भोजन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित नहीं करना चाहिये। यह विशुद्ध वैज्ञानिक अवधारणा रही है, क्योंकि कच्चे भोजन में संक्रमण के खतरे होते हैं, इसलिये हमारी जीवन शैली में कच्चे भोजन को रसोई के भीतर ही बिठाकर जिमाने का विधान रहा है। आज भी चावल, दाल, रोटी सब्जी जैसे भोजन को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में सभी कतराते है। क्योंकि यह भोजन बहुत जल्दी खराब होता है। यह बात हमारे पूर्वज ठीक से जानते थे इसीलिये उन्होंने कच्चे भोजन को स्थानान्तरित करने पर ही रोक लगा दी थी।

बर्तनों का चयन

प्राचीन भारतीय रसोई में बर्तनों के प्रयोग को लेकर अतिशय सतर्कता बरायी जाती थी। यद्यपि उस समय तेज ईंधन उपलब्ध नहीं थे फिर भी भोजन के निर्माण में अधिकतम मिश्रित धातु ही प्रयोग की जाती थी। इस धातु में भोजन के निर्माण के पीछे वैज्ञानिक कारण भी होता था। मसलन जिस बर्तन में दाल बनती थी वह फूल का होता था। एक निश्चित तापक्रम और दबाव के बाद उस धातु के साथ दाल के अवयवों के बीच एक व्यापक रासायनिक अभिक्रिया भी होती थी और तब जो दाल लोग ग्रहण करते थे उसमें कई प्रकार के तत्त्व शरीर को मिलते थे। काष्ठ की कठौती में आटा गूंथ कर जो रोटी बनती थी उसके स्वाद साथ उसमें पोषक तत्त्व भी अलग से मिलते थे क्योंकि वह कठौती भी किसी खास किस्म के वृक्ष की लकड़ी की बनी होती थी। आज लोग अलग-अलग प्रकार के लकड़ियों से बने गिलासों का प्रयोग औषधि के रूप में कर रहे हैं। पानी पीने के बर्तन ताम्बे या फूल के ही हमेशा प्रयोग में लाये जाते थे। दूध पीने के लिये केवल फूल का गिलास प्रयोग में लाया जाता था। दाल छौंकने के लिये पीतल की करछुल का प्रयोग किया जाता था। इस कारण अभी हाल ही में खोजा जा सका है। पीतल की करछुल को गरम करके उसमें सरसों के तेल या घी को दालकर फिर उसमें जीरा और हींग मिलाकर जो छौंक दाल को दी जाती थी उसके बारे में अब आधुनिक विज्ञान

ने बताया है कि इससे एक खास किस्म का रसायन उत्पन्न होकर दाल को इस लायक बना देता है कि उस दाल के साथ रोटी या चावल खाने से कोई संक्रमण नहीं होता तथा भोजन के पाचन और अवशोषण में काफी तीव्रता आती है। लोहे की कड़ाही में सब्ज़ी के निर्माण से व्यक्ति को भोजन के साथ ही पर्याप्त मात्रा में लौह तत्त्व मिल जाता है।

रसोईं निर्माण में लगे व्यक्ति की मनोदशा

भारतीय लोक परम्परा में कहा जाता है कि भोजन भाव से बनाना और परोसना चाहिये। यह केवल कहने की बात नहीं है। इसका भी पर्याप्त वैज्ञानिक कारण है। भारतीय भोजन विज्ञान यह मानता है कि भोजन के निर्माण में लगे सभी अवयवों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विंदू यह होता है कि भोजन का निर्माण कौन व्यक्ति किस मानसिकत अवस्था में कर रहा है। रसोइये की मानसिक अवस्था और उसकी तत्कालीन अन्तःस्रावी अभिक्रियायें भोजन के निर्माण पर व्यापक प्रभाव डालती है। यदि माँ के हाथ के भोजन में स्वाद और सुगन्धी मिलाती है तो इसलिये क्योंकि माँ जब भी भोजन निर्माण कराती है तो उसकी पूरी मनोदशा ऐसी होती है जिसमें वह इस योग्य भोजन बनाने की कोशिश कराती है जिसको ग्रहण करके उसके बच्चे अति प्रसन्न हो सके। उसके बच्चों को इस भोजन से ऐसी उनका उचित पोषण हो, वे स्वस्थ और ह्रष्ट पुष्ट बने। इस बिंदु को समझने के लिये हम कोई भी प्रयोग कर सकते हैं। आपके रसोइये अथवा घर में भोजन बनाने वाले ने यदि बेमन से भोजन बनाया है तो उस भोजन से शरीर को कभी भी लाभ तो पहुँच ही नहीं सकता। क्रोध अथवा उपेक्षाभाव में निर्मित भोजन से हमेशा बीमार होने और नुक्सान पहुँचने की आशंका बनी रहती है और यही होता भी है।

स्वस्थ परिवार के निर्माण की प्रयोगशाला

आयुर्वेद हमारी जीवन शैली, दिनचर्या और ऋतुचर्या में सदियों से पिरो दिया गया है। उससे भी अधिक वह हमारी पारम्परिक रसोई में विद्यमान है। तनिक और ध्यान से विश्लेषित किया जो देखा कि हमारी रसोई आयुर्वेद की पारम्परिक प्रयोगशालायें हैं, हर घर में एक, हर दिन में कार्यरत और निष्कर्ष हमारा स्वास्थ्य। हमें कभी भी पता नहीं चला, पर जिस कुशलता से हमारे आयुर्वेद के पुरोधाओं ने इन सूत्रों की वैज्ञानिकता को रसोईं में समाहित किया है, वह उपलब्धि आयुर्वेद से भी गहरी है। एक एक पकवान, किसी भी ऋतु का, किसी भी समय का, सब में आयुर्वेद के सूत्र का आधार। अद्भुत है आयुर्वेद के काल का विस्तार और सन्निहित प्रक्रियाओं की सूक्ष्मता।

भारतीय रसोइया आयुर्वेदीय प्रयोगशाला

पिछले २०-३० वर्ष में भारतीय रसोईं में आये बदलावों को छोड़ दें और तब रसोईं में आयुर्वेद की स्थापना देखें तो आये बदलाव आधुनिकता की मूर्खतापूर्ण नकल लगेगी। लगेगा कि जिन प्रयोगशालाओं में स्वास्थ्य के प्रयोग सदियों से चल रहे हैं, उनमें किस तरह हमने अवैज्ञानिकता को प्रवेश करने दिया। आइये, वाग्भट्ट के रसोईं सम्बन्धित ऐसे ही चार सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हैं।

वाग्भट्ट का पहला सिद्धान्त है कि जिस भोजन को सूर्य का प्रकाश और पवन का स्पर्श न मिले, वह भोजन नहीं, विष है जो धीरे-धीरे हमें ही खा जायेगा। सूर्य काप्रकाश और पवन का स्पर्श अन्न, शाकादि के बनने में सहायक होता है। इन दोनोंकी अनुपस्थिति शरीर के प्रतिलाभ प्रदन नहीं मानी गयी है। ऐसा जल भी दूषित माना जाता है। यही कारण रहा होगा कि जैन मतावलम्बी धरती के अन्दर होने वाले उत्पादों को नहीं खाते हैं। सूर्यास्त के बाद भोजन पकाने, खाने और संग्रहण भी सम्भवतः इसी कारण जैन समाज में निषेध हों। हो सकता है कि धूप में सुखाने से उसमें हानिकारक जीवाणु न आते हों। पवन का स्पर्श, संभव है, उसमें ऑक्सीजन और पोषक तत्वों को समाहित कर लेता हो और

उसे स्वास्थ्यप्रद बना देता हो। अहिंसा प्रेरित जैनियों की आस्था निराधार तो कदाचित नहीं होगी, और निश्चय ही उसमें वाग्भट्ट के सूत्रों का स्वस्थ संचरण होगा।

वाग्भट्ट का दूसरा सिद्धान्त है कि जिस अन्न को खेत में पकने में अधिक समय लगता है, उसे पकने में उतना ही अधिक समय लगेगा। यहाँ पर गति का सिद्धान्त दिखता है। कहने का आशय है कि किसी भी अन्न में निहित पूर्ण पोषकता निकालने के लिये उसे उसी अनुपात में पकाना चाहिये जिस अनुपात में प्रकृति ने उसे पकाया है। खेत में ३ माह में पके अन्न को कम पकाना पड़ेगा, जबकि ९ माह में पके अन्न को उससे कहीं अधिक पकाना पड़ेगा। माटी से पोषक तत्वों का एकत्रीकरण और भोजन के लिये उसका विघटन, ये दोनों एक दूसरे की विपरीत प्रक्रियायें हैं। न हम उसे पल्लवित करने के तीव्र कर सकते हैं और न हि उसे पोषकतत्वों में विघटित करने के लिये शीघ्रता कर सकते हैं। यदि हम ऐसा करते हैं तो हमें खाद्य तो मिलेगा पर उसमें पोषक तत्व नहीं मिलेगा।

वाग्भट्ट का तीसरा सिद्धान्त है कि भोजन बनने के ४८ मिनट के अन्दर उसको खा लेना चाहिये, जैसे-जैसे देर होती है, उसकी पौष्टिकता कम होती जाती है। २४ घंटे के बाद भोजन बासी हो जाता है और पशुओं के खिलाने के योग्य भी नहीं रहता है। बार-बार ठण्डा गरम करने की प्रक्रिया में पोषक तत्व अपना मौलिक गुण खो बैठते हैं और विकृति उत्पन्न करते हैं। साथ ही साथ अन्नादि को पीसने के बाद १५ दिन के अन्दर ही उसका उपयोग कर लेना चाहिये; नहीं तो उनमें भी पोषकता का क्षय होने लगता है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह बात बड़ी स्वाभाविक लगती है। एक बार पकने या पीसने से किसी भी अन्न के पोषक तत्व अपने सर्वाधिक ग्राह्यरूप में आ जाते हैं। इस समय वातावरण में व्याप्त न जाने कितने जीवाणुओं के लिये यह सुविधाजनक होता होगा कि वे उस पर धावा बोल दें। जैसे-जैसे समय बीतता होगा, पके अन्न का मौलिक गुण इन जीवाणुओं के द्वारा परिवर्तित और दूषित होता होगा। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि वाग्भट्ट द्वारा दी, इतनी वैज्ञानिक सलाह का हम प्रायः हर दिन उल्लंघन करते हैं।

वाग्भट्ट का चौथा सिद्धान्त है कि किसी भी कार्य में यदि अधिक गति से किया जाये तो वह वात उत्पन्न करता है। भारत एक वात प्रधान देश है, यहाँ पर ७० प्रतिशत रोग वातजनित, २० प्रतिशत पित्त जनित, १० प्रतिशत कफ जनित है। कहने का आशय यह है कि हम जीवन में या रसोईं में जो भी प्रक्रियायें अपनायें, वे गतिमान न हों और सूक्ष्म न हों। धीरे पीसे आटें में और बिजली की चक्की के तेज पीसे आटें में यही गुण झलकता है। प्रयोग करके देख लें कि धीरे पीसा आटें की रोटी अधिक समय तक मृदु रहती है, जबकि तेजी से पीसे आटे की रोटी बहुत शीघ्र ही कड़ी हो जाती है। इसी तरह मैदा जैसा सूक्ष्म अन्न वात बढ़ाता है। वही सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया रिफाइण्डतेल और चीनी के साथ भी होती है, और स्वाभाविक है कि ये दोनों कड़वे तेल और गुड़ की अपेक्षा बहुत अधिक वात बढ़ाते है। आइये देखते हैं कि आधुनिक जीवन शैली ने पिछले २०-३० वर्षों में इन चार सिद्धान्तों की किस तरह से धज्जियाँ उड़ायी हैं और किस तरह से हमारी रसोईं आयुर्वेद की प्रयोगशाला से रोगों की प्रयोगशाला बन गयी है-

हांडी की दाल

प्रेशर कुकर पहले दो सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है। प्रेशर कुकर में पकते समय न सूर्य का प्रकाश मिलता है और न पवन का स्पर्श। साथ ही साथ अपने प्रेशर से दाल को तोड़कर उबाल देता है। दाल को उसके पोषक तत्वों में विघटित नहीं करता है। खेतों में दाल को पकने में ९ माह के आस-पास लगता है, तो दूसरे सिद्धान्त के अनुसार उसे अग्नि पर भी देर तक पकाना चाहिये, धीमी आंच में। जिन्हें भी अपने गांव की तनिक भी याद है उन्हें याद होगा कि प्रेशर कुकर आने के पहले हर घर में माटी की हांडी में दाल बनती थी, धीरे धीरे और अद्भुत स्वादिष्ट। प्रेशर कुकर में पकी दाल में पोषक तत्व मात्र १५ प्रतिशत पाये गये, जबकि माटी की हांडी की दाल में एक भी पोषक तत्व नष्ट नहीं हुआ। जगन्नाथपुरी में आज भी माटी की हांडी में प्रसाद बनता है। माटी का सोंधापन और तत्वों में शरीर से एकरूपता, उसे इतना उत्कृष्ट पाक पात्र बनाते होंगे। साथ ही साथ प्रेशर कुकर में प्रयुक्त एल्युमिनियम का उपयोग स्वास्थ्य की दृष्टि

से अत्यन्त संदिग्ध और हानिकारक है। यह तथ्य जानने के बाद, मेरे घर में दाल और खीर माटी की हांडी में ही बन रही है, स्वाद अद्भुत और पौष्टिकता शतप्रतिशत।

फ्रिज और ओवेन, पहले और तीसरे सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं। खाद्य को संरक्षित करने के नाम पर बार-बार ठण्डा गरम कर हम उसमें पौष्टिकता पूरी तरह से निकाल देते हैं और केवल अवशिष्ट खाते हैं। न केवल हम अपने पाचन तंत्र का विनाश करने पर तुले हैं, वरन बिजली की अथाह बरबादी और क्लोरोफ्लोरोकार्बन के उत्सर्जन से पर्यावरण को भी क्षति पहुँचा रहे हैं। फ्रिज के ठण्डे पानी ने देश में कब्जियत का प्रसार किया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम घड़े का उपयोग करें। साथ ही साथ उतना ही बनाये जितना खा सकें। अधिक बनने पर संरक्षित न करें वरन् आस-पास के पशु-पक्षियों को खिला दें। भारत में भोजन बचाकर और उसे अपोषक बनाकर खाने की परम्परा नहीं है। ताजी और गरम रोटी का सुख, स्वास्थ्य और स्वाद, सड़ाकर और बासी आटे से बने पाव और डबल रोटी से कहीं अधिक है। मिक्सी आदि यंत्र चौथे नियम को तोड़ते हैं। गति के सिद्धान्त की प्रकृति में उपेक्षा नहीं की जाकती है। सिल बट्टा आदि में सब कुछ धीरे धीरे पिसता है और आवश्यकता से अधिक सूक्ष्म भी नहीं होता है। मिक्सी आदि में न केवल गति से पिसता है, वरन् अति सूक्ष्म भी हो जाता है, दोनों ही प्रकार से वह वात कारक है। इसी प्रकार पैकेट का आटा और डब्बा बन्द भोजन तीसरे और चौथे सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं। बंगलोर में रहने वाले मेरे कई मित्र बताते हैं कि पैकेट वाले आटे में घर जैसी बात नहीं, उससे पेट तो भरता है, परन्तु संतुष्टि नहीं मिलती है। मुझे अपने गांव की याद आती है, वहाँ सुबह उठकर दिन भर की आवश्यकता के लिये हाथ से चलने वाली चक्की में आटा पीसने का कार्य हमारी घर का काम महिलायें करती थीं।

हमारी रसोईं में चलती परिपाटियाँ आयुर्वेद के सूत्रों का अमृतनिचोड़ होता था, वह भी हर छोटी बड़ी प्रक्रिया में सरलता से सहेजा हुआ। चक्की, सिल बट्टा आदि यंत्रों से न केवल हमारे स्वाद और स्वास्थ्य की रक्षा होती थी, वरन् घर में रहने वाली महिलाओं का समुचित व्यायाम भी हो जाता था। आधुनिक यंत्रों ने स्वाद, स्वास्थ्य और श्रम के सुंदर संतुलन को नष्ट कर दिया है। हमें भी मशीन बनाकर रख दिया है। अब न हम पौष्टिक खा पा रहें, न स्वादिष्ट खा पा रहे हैं, न स्वस्थ हैं और न ही सुगढ़।

हर घर में स्थापित रसोईं ही वास्तव में स्वस्थ परिवार, स्वस्थ समाज और स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण की प्रयोगशाला है। हमारी भारतीय सनातन परंपरा में इसीलिये खान-पान में सतर्कता और परहेज पर खासा जोर दिया गया। यदि परिवार के मुखिया को यह बात ठीक प्रकार से समझ में आ जाये तो हर परिवार के सभी सदस्यों को अधिक से अधिक हम स्वस्थ रख सकते हैं। इससे बीमारियों और दवाओं पर होने वाले अनावश्यक खर्चों में भरी कमी की जा सकती है, लेकिन चिंता की बात तो यह है कि व्यक्ति जीतनी प्रगति कर रहाहै, वह अपने खान-पान को ले रहा है। आज लोग यह सोच ही नहीं पा रहे ही उनके पोषण, विकास और स्वास्थ्य के लिये सबसे बड़ी प्रयोगशाला तो उनके घर में ही है। यदि अपनी रसोईं को हर परिवार अपने निर्माण की प्रयोगशाला में देखे और स्थिति पर विचार करके जीवन शैली विकसित करे तो निश्चय ही हम एक सुखी, स्वस्थ और समुन्नत भारत के निर्माण की नयी प्रक्रिया शुरूकर सकते हैं।

संदर्भ

आयुर्वेद संहिता
वाग्भट्ट के चार सूत्र
भारतसंस्कृति न्यास
भारतीय भोजन की अवधारणा
भोजन विज्ञानं
भोजनक्रिया विधि ः रस और रसायन

लेखकों के लिए निर्देश

शोधपत्र का अनुरोध

लेखक अपना शोधपत्र डॉ. मनीषा शुक्ला ,प्रधान सम्पादिका आन्वीक्षिकी भारतीय शोध पत्रिका को ई-मेल पर प्रेषित करें। (maneeshashukla76@rediffmail.com)

प्राप्त शोधपत्र पत्रिका में प्रकाशन के पूर्व पुनर्निरीक्षित किये जायेंगे। स्वीकृत शोधपत्र कहीं और प्रकाशित नहीं होना चाहिए और न ही उस शोधपत्र का कोई भी भाग प्रधान सम्पादिका के अनुमति के बिना कहीं और प्रकाशित किया जा सकता है। कृपया अपने शोधपत्र की पाण्डुलिपि निम्न भागों में तैयार करें,शीर्षक ;सारांश ;पाण्डुलिपि ;पुस्तक संदर्भ सूची। कृपया पुनर्निरीक्षण की गुणवत्ता में सहायता करने हेतु अपना नाम पता पाण्डुलिपि पर न दें।

शीर्षक :शीर्षक पाण्डुलिपि पर अवश्य दें,किन्तु अपना पूरा नाम,पता,संस्था जहाँ पर अध्ययन अथवा अध्यापन कार्य सम्पादित किया गया हो, आपका विषय,दूरभाष अथवा मोबाइल,फैक्स,ई-मेल पत्राचार हेतु अलग पृष्ठ पर अवश्य दें। उपर्युक्त तथ्य आपके शोधपत्र के शब्द सीमा के अन्तर्गत ही माना जायेगा।

सारांश :कृपया शोधपत्र का सारांश 120 शब्दों में दें।

पाण्डुलिपि :इसके अन्तर्गत मुख्य पाठ्य सामग्री होगी ; जो 5 से 10 पृष्ठ तक होनी चाहिये। शोधपत्र 10 पृष्ठ से (सारांश,शब्द संक्षेप,संदर्भ सूची समेत)अधिक प्रकाशन हेतु स्वीकार नहीं किया जायेगा। अन्यथा वृहद् शोधपत्र(10 पृष्ठ से अधिक) प्रकाशन में देर भी हो सकती है। लेखक को यह बात स्वीकार होनी चाहिए कि शोधपत्र पुनर्निरीक्षण के दौरान किये गये संशोधन उन्हें मान्य होंगे। शोधपत्र प्रकाशन के दौरान त्रुटि की सम्भावना न बने इसका पूरा ध्यान रखा जाता है फिर भी कोई त्रुटि पाये जाने पर लेखक संशोधित रीप्रिंट प्राप्त कर सकता है ; पत्रिका में संशोधन की व्यवस्था नहीं है।

सन्दर्भ वर्णमालाक्रामानुसार :शोधपत्र के समापन पर कृपया संदर्भ वर्णमाला क्रमानुसार दें। पत्रिका का वर्ष,लेखक, पृष्ठ संख्या,भाग इत्यादि विस्तार से दें। पुस्तक शीर्षक या पत्रिका शीर्षक इटालिक दें।

पुस्तक :प्रकाशक का नाम,संस्करण संख्या,प्रकाशन वर्ष,लेखक का नाम,पुस्तक का नाम,पृष्ठ संख्या

पत्रिका :पत्रिका का नाम,लेख का शीर्षक,लेखक का नाम,प्रकाशक का नाम,अंक संख्या/माह,वार्षिक अथवा अर्द्धवार्षिक अथवा मासिक जो भी हो स्पष्ट करें।

समाचार पत्र :प्रकाशक,तिथि,सन् ,पृष्ठ संख्या,

इण्टरनेट :वेबसाइड,पृष्ठ संख्या,मुख्य शीर्षक,अन्त: शीर्षक।

मानचित्र एवं सारणी :मानचित्र एवं सारणी अथवा चित्र शोधपत्र की समाप्ति के अन्त में दें। यह ब्लैक एण्ड व्हाइट ही होना चाहिए। इसका स्पष्ट संकेत पाण्डुलिपि में दें(उदाहरण सारणी संख्या 1)

विशेष :कृपया अपना शोधपत्र ई-मेल करने के बाद डॉक से अवश्य भेजें। अपने शोधपत्र के साथ-साथ अपना वायोडाटा, फोटो,स्वपता लिखा लिफाफा(25 रू के टिकट सहित)भेजें। शोधपत्र यदि हिन्दी भाषा में है तो ए.पी.एस प्रियंका रोमन(ए.पी.एस. कार्पोरेट 2000++)में तैयार सी.डी के साथ दें। शोधपत्र प्राप्त होने के एक सप्ताह के अन्दर लेखक को स्वीकृति पत्र प्रेषित कर दिया जायेगा। ई-मेल से प्राप्त शोधपत्र हेतु ई-मेल से स्वीकृति भेजी जायेगी। शोधपत्र प्रेषित करने के पूर्व प्रधान सम्पादिका से दूरभाष पर अवश्य सम्पर्क करें। सम्पादक मण्डल अथवा सलाहकार समिति में सम्मिलित करने का अंतिम निर्णय संस्था का होगा।

सदस्यों से निवेदन है कि वर्ष में 20 सदस्य पत्रिका से जोड़कर संस्था का सहयोग करें।

प्रकाशन

अन्य एम.पी.ए.एस.वी.ओ. पत्रिकाएँ

सार्क अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका

www.anvikshikijournal.com

अन्य सहसंयोजन

एशियन जर्नल ऑफ मार्डन एण्ड आयुर्वेदिक मेडिकल साइंस

अर्द्धवार्षिक पत्रिका

www.ajmams.com

www.anvikshikijournal.com

ISSN 0973-9777

09739777

₹ 1300/-